उपदेश मञ्जरी

महर्षिदयानन्द सरस्वती

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

ओ३म्

उपदेशमञ्जरी

[स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूना में दिये गये
पन्द्रह व्याख्यानों का संग्रह]

सम्पादक

आचार्य राजवीर शास्त्री एम० ए०

(सं० दयानन्द-सन्देश)

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा प्राप्त उचित दर के
कागज पर प्रकाशित की गई है।

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७

शाखा—४५५ खारीबावली, दिल्ली-११०००६

दूरभाष—२२१३२७, २२६५४७, २३३११२, २३८३६…

सृष्टि-संवत्—१,९६,०८,५३,०८२

विक्रमी—२०३८, जून १९८१ ई०

पूर्वप्रकाशित ४४००

तृतीयबार ४४००

योग ८८००

मूल्य २) रु० ५

सैकड़ा १५०)

विषय-सूची

उपदेश-मञ्जरी का प्राक्कथन

उपदेश का महत्त्व—

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजु०) इस पावमानी भगवती के शाश्वत उपदेश के अनुसार ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। यह ज्ञान-प्राप्ति मानवेतर योनियों में कदापि सम्भव नहीं है। मानव-योनि में भी यदि योग्य ज्ञानी धर्मात्मा गुरु न मिला तो ज्ञान-प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति के दो प्रकार के साधन होते हैं— १. दृश्य और २- श्रव्य। इन दोनों से भद्र ही देखने और भद्र ही सुनने की प्रार्थना वेद-मन्त्र में की गई है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

अर्थात् हम शिक्षा में परम साधनभूत कर्णेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय से सदा कल्याणकारक सत्य वचनों को ही सुनें और शिक्षाप्रद कल्याणकारक दृश्यों को ही देखें। योग्य गुरु के प्राप्त होने पर ही मानव दूसरा जन्म होने पर द्विज कहलाता है, अन्यथा एक जातिज होने से शूद्र ही रहता है। शास्त्रों में जन्म देने वाले पिता से ब्रह्मद=ज्ञानदाता गुरु को ही बड़ा बताया है। यद्यपि सब जीवों का आदिगुरु तथा मूलशिक्षक परमेश्वर है। उसी के उपदिष्ट ज्ञान को मनुष्य गुरु-शिष्य परम्परा से पढ़ता-पढ़ाता रहता है। पुनरपि गुरु या उपदेशक का स्थान कम नहीं है। सांख्यदर्शन में बहुत ही स्पष्ट कहा गया है—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ सां० ३। ७९ ॥

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ सां० ३। ८१ ॥

अर्थात् योग्य शिष्य तथा योग्य यथार्थोपदेष्टा गुरु के होने पर ही ज्ञान-प्राप्ति होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। अन्यथा अन्ध-परम्परा होने से अन्यथा ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान होने से मुक्ति कभी भी नहीं मिल सकती। महाभारत के युद्ध के पश्चात् आप्तपुरुष, ऋषि, मुनियों के न रहने से हमारे देश में अर्धपठित, अल्पपठित तथा अभिमानी ब्राह्मणों ने स्वार्थवश अन्धपरम्पराएं प्रारम्भ कीं। जिनका परिणाम बिगड़ते-बिगड़ते यह हुआ कि आज मानव अत्यन्त अधमावस्था को प्राप्त होकर मानव-जीवन को निरर्थक करने में लगा है। और पागलों की भांति पुष्पमाला को भी

सर्वथा प्रतित्याज्य समझकर ज्ञान से विमुख ही नहीं हुआ है, प्रत्युत ज्ञान का डटकर प्रतिद्वन्द्वी बनकर मुकाबला करने में लगा है। ऐसे व्यक्तियों को समझाना कोई साधारण कार्य नहीं है।

महर्षि दयानन्द से इस शोचनीय दशा के विषय में किसी ने पूछा—

(क) "इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं। वेद और छः दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को, जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए।.........मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने से यह काम कैसे हो सकेगा।" (उपदेश० त्रयोदश०)

(ख) महर्षि ने सच्चे उपदेशकों की आवश्यकता बताते हुए स्वयं कहा था—

'आर्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिएँ।" (उपदेश० १५ उपदेश)

इसलिए धार्मिक, यथार्थोपदेष्टा, आप्तपुरुषों के उपदेश का विशेष महत्त्व होता है, जिनसे मनुष्यों का अज्ञान दूर होकर ज्ञान-गंगा में स्नान करने से कायाकल्प ही हो जाता है।

महर्षि दयानन्द के उपदेश का महत्त्व—

वेदविद्या के पारङ्गत, परम योगी तथा मानव-मात्र के परम हितैषी दयानन्द की वाणी कैसी ओजस्विनी तथा गम्भीर थी, यह तो स्वयं श्रोता ही जान सके थे। किन्तु महर्षि-जीवन की घटनाओं तथा तत्कालीन विद्वानों के लेखों से उनकी ज्ञान-गरिमा तथा वाग्मिता का स्पष्ट बोध होता है। महर्षि की पवित्र वाणी का ही यह प्रभाव था जो महा नास्तिक मुंशीराम आस्तिक ही नहीं बने, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द बनकर महर्षि का जीवन भर यशोगान करते रहे। भौतिक-विज्ञान के चमत्कार से चमत्कृत पं० गुरुदत्त को भी महर्षि के उत्तरों से निरुत्तर होना पड़ा और महर्षि की अन्तिम लीला को देखकर तो सब भ्रान्तियों का ही समूल उन्मूलन हो गया। तहसीलदार अमीचन्द, जो सभी दुष्कर्मों में ग्रस्त था, महर्षि के एक वाक्य से ही उसका जीवन बदल गया। महर्षि की वाणी को सुन-सुन कर ईसाई मत के पादरी और मुस्लिम मौलवी खड़े-खड़े दान्तों तले अंगुली दबाया करते थे। महर्षि की वाणी में सत्यता, मधुरता, हितभावना तथा ओजस्विता का अपूर्व मिश्रण था। जिस को सुनकर न केवल सज्जन पुरुष ही नतमस्तक हो जाते थे, दुर्जन भी उनके आगे थर-थर कांपने लगते थे, उनके सभी हौसले परास्त हो जाते थे। अनेक बार महर्षि के प्राणों के घातक महर्षि की हुंकार से ही पलायन कर गए। दुश्चरित्र

महिलाओं की कलुषित आत्माओं में महर्षि के वचनों से ही पवित्रता के बीज अंकुरित हो गए। ऐसे महर्षि के उपदेशों का आज भी क्यों प्रभाव नहीं होगा ? उनकी वाणी से निकले वचन तथा लेख सदा ही मानव की गहन गुफाओं में व्याप्त भ्रान्ति, अन्धकार को छिन्न-भिन्न करते रहेंगे और ज्ञान-ज्योति को जगमगाते रहेंगे।

महर्षि के उपदेशों तथा उनकी वाणी की महत्ता ऐसे पुरुषों द्वारा सुनिए जिन्होंने उनके दर्शन करके उपदेशों का पीयूष साक्षात् कानों से पिया था—

(१) "स्वामी दयानन्द जी उत्तम रसमय वाणी के वक्ता थे। उनकी वाणी गम्भीर थी, उसी प्रकार उनकी भाषण-पद्धति अत्यन्त मार्मिक व कभी कभी आलंकारिक हो जाती थी। इसी कारण उनके भाषण सुनने हेतु एकत्रित श्रोतागण तल्लीन हो जाते थे।" (महादेव गोविन्द रानाडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई की आत्मकथा से)

(२) "कई भाइयों ने मुझसे पूछा कि जब सत्यार्थप्रकाश जैसी पूर्ण सिद्धान्तों से ओतप्रोत पुस्तक मौजूद है तो महर्षि के व्याख्यानों को प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता है ? मेरा उत्तर यह है कि इन व्याख्यानों में कई नवीनतम विषय ऐसे हैं, जो कि सत्यार्थप्रकाश के कई रहस्यपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालते हैं और आर्यसमाज के कई सिद्धान्तों को अधिक सरल बना देते हैं।.........मेरे विचार में ये व्याख्यान सत्यार्थप्रकाश की भूमिका का काम देंगे और आर्य नर-नारियों को संजीवनी बूटी का काम देंगे। मुझे दुःख है कि महर्षि के सभी व्याख्यानों को लिपिबद्ध नहीं किया जा सका। यदि प्रत्येक व्याख्यान का इन पन्द्रह व्याख्यानों की तरह खुलासा हमारे लिए सुरक्षित रहता तो कई शङ्काएँ, जो प्रायः आर्य भाइयों को सिद्धान्तों के समझने में पैदा होती हैं, वे न होतीं।।"

(स्वामी श्रद्धानन्द)

महर्षि के उपदेश तथा वर्त्तमान के उपदेशों की शैली में अन्तर—

महर्षि दयानन्द के इन उपदेशों से स्पष्ट है कि महर्षि विषय का निर्धारण करके उसी का प्रतिपादन किया करते थे। और दूसरे दिन भी उसी विषय से सम्बद्ध शङ्काओं का समाधान किया करते थे। परन्तु आजकल उपदेशों की शैली महर्षि से भिन्न हो गई है। वेदोपदेश नाम से कोई भी मन्त्र पढ़ा और उपदेश प्रारम्भ कर देते हैं। उसका मन्त्र से कोई सम्बन्ध है या नहीं इसका ध्यान नहीं रखा जाता। केवल मात्र श्रोताओं के मनोरञ्जन करना अथवा उनका ध्यान आकृष्ट करना मात्र ही उपदेष्टा का प्रयोजन होता है। अथवा उपदेश में यह भी देखा जाता है कि वक्ता ने मन्त्र के किसी अथवा किन्हीं पदों को लेकर ही समस्त उपदेश कर दिया, चाहे वह अर्थ मन्त्र के दूसरे पदों तथा देवता से संगत हो या नहीं। मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय देवता की तो प्रायः उपेक्षा ही कर दी जाती है।

वेदोपदेशकों तथा आर्यपुरोहितों को योग्य है कि वे महर्षि की शैली को ही उपदेश के लिए अपनाएँ। यह तो ठीक है कि महर्षि की शैली को अपनाने में भूरिश्रम की आवश्यकता होगी। एक विषय के उपदेश के लिए शास्त्रों का अध्ययन तथा गम्भीर चिन्तन भी करना होगा। किन्तु वेदों का गौरव तथा मानव-हित महर्षि की शैली में ही निहित है। अन्यथा वेद का तो नाम मात्र ही रह जायेगा, उसके स्थान पर पौराणिक शैली ही आजायेगी। आर्यों को इसके लिए सतर्क एवं सजग रहना चाहिए।

उपदेश-मञ्जरी का परिचय—महर्षि-दयानन्द महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे एवं श्री महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि सज्जन पुरुषों के आग्रह पर पूना में आषाढ़कृष्णा १४ मंगलवार तदनुसार २० जून १८७५ ई० को पधारे थे और उनको विट्ठलपेठ में शंकर सेठ के भवन में ठहराया गया था। महर्षि की जीवनी के विख्यात लेखक स्व० पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार महर्षि के व्याख्यानों की व्यवस्था बुधवार पेठ के भिडे के बाड़े में तथा कैम्प में ईस्ट स्ट्रीट में की गई थी। महर्षि ने कुल ५० व्याख्यान दिए थे। इनमें १५ पूना में शेष कैम्प में। मुखोपाध्याय के अनुसार इन सभी व्याख्यानों को लिपिबद्ध करके स्वयं रानाडे ने मराठी में छपवाया था। कालान्तर में १५ व्याख्यानों का हिन्दी में अनुवाद कराकर 'उपदेश मञ्जरी' के नाम से प्रकाशन हुआ। गोविन्द रानाडे की पत्नी रमाबाई ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"स्वामी जी जब पूना आए, तब से उनके प्रवचन प्रतिदिन भिड़े साहब के दीवानखाने में होते थे। सन्ध्याकाल के दो ढाई घण्टे इन प्रवचनों को सुनने व वहाँ की व्यवस्था करने में व्यतीत होते थे।"

श्री पं० शकरदेव विद्यालंकार के अनुसार सन् १९१५ में गुजराती भाषा में 'दयानन्द स्वामी नुं स्वरचित जीवन वृत्तान्त' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। यह मराठी में छपी एक पुस्तक का ही रूपान्तर थी। इस पुस्तक के 'आमुख' के लेखक श्री मुखोपाध्याय के अनुसार पूना के व्याख्यानों का विवरण उसी समय अर्थात् १८७५ में ही श्रीगणेश जनार्दन आगाशे बी० ए० ने मराठी में लिपिबद्ध कर लिया था, जो उस समय पूना के हाईस्कूल में सहायक मुख्याध्यापक थे। और उसे प्रकाशित कर स्वामी जी के भक्तों एव मित्रों में वितीर्ण किया गया था।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि के इन उपदेशों के मराठी अनुवादक श्री आगाशे तथा सम्पादक श्री महादेव गोविन्द रानाडे थे। पूना में दिए इन उपदेशों का गुजराती भाषागे अनुवाद करके भी प्रकाशन हुआ था। इस विषय में लाला लाजपतराय लिखते हैं—"स्वामी जी ने यहाँ १५ व्याख्यान दिए, ज्यो उसी समय गुजराती भाषा मे प्रकाशित हो गए और जिनको लाला मुन्शीराम जी ने 'उपदेश-मञ्जरी' के नाम से प्रकाशित किया है।" महर्षि के इन व्याख्यानों का मराठी-भाषा में दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ। पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल तथा प्रसिद्ध देशभक्त स्व० नरहरिविष्णु

गाडगील ने मराठी भाषा में प्रकाशित पूना के व्याख्यानों की एक प्रति परोपकारिणी सभा को प्राप्त कराई, जिसमें प्रस्तावना के लेखक श्री गाडगील ही हैं। इस प्रकाशन में ४, ६, ८, १०, ११, १३, १७, २४ और २५ जुलाई को दिए गए ८ व्याख्यानों का संग्रह है।

'उपदेश-मञ्जरी' के इन १५ व्याख्यानों का हिन्दी में सर्वप्रथम आर्य पुस्तक प्रचारिणी सभा अजमेर ने प्रकाशन किया था। इस के हिन्दी में अनुवादक थे—श्री पं० गणेश रामचन्द्र शर्मा। ये विद्वान् जोधपुर राज्य की ओर से आर्यसमाज के वैतनिक उपदेशक का कार्य करते थे इस 'उपदेशमञ्जरी' का तृतीय बार जो प्रकाशन हुआ, जिसकी एक प्रति हमारे ट्रस्ट के पुस्तकालय में है, उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर यह लिखा है—"महाशय श्याम लाल वर्मा आर्यबुकसेलर बांसबरेली ने श्रीमान् पण्डित बदरीदत्त शर्मा कानपुर द्वारा सरल और मनोहर भाषा में अनुवाद करा के प्रकाशित किया।" यह संस्करण सन् १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसी संस्करण से इस प्रस्तुत संस्करण का मिलान किया गया है।

यद्यपि इसके बाद १९३७ ई० में 'पूना-प्रवचन' के नाम से आगरा निवासी श्री पं० श्रीराम शर्मा ने सम्पादन किया और अर्वाचीन समय में उपदेशमञ्जरी तथा पूना-प्रवचन के नाम से अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। परन्तु हमने इस पुस्तक का प्राचीन तथा उपयोगी 'उपदेश-मञ्जरी' नाम को ही उचित समझा है। भिन्न-भिन्न नाम से भी पाठकों को भ्रान्ति हो जाती है। नाम विपर्यय करना एक व्यावहारिक भूल ही करना होता है। महर्षि के इन उपदेशों से जहाँ महर्षि की वाग्मिता, विषय-प्रतिपादन शैली तथा विद्वत्ता का बोध होता है, वहाँ उनकी व्याख्यान शैली का भी बोध होता है। महर्षि पूर्व दिन जिस विषय पर प्रथम उपदेश देते थे, दूसरे दिन उसी विषय पर शंका-समाधान किया करते थे। जिससे उपदेश हृदयंङ्गम तो होता ही था, साथ ही श्रोताओं की जिज्ञासा भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती थी।

इस संस्करण की विशेषता—

'उपदेश मञ्जरी' के इस संस्करण को १९१५ में प्रकाशित श्री पं० बदरीदत्त शर्मा द्वारा अनूदित संस्करण से मिलाया गया है। श्री पं० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित 'पूना-प्रवचन' प्रति की भी सहायता ली गई है। दोनों संस्करणों से मिलाकर यह यत्न किया गया है कि कोई प्राचीन तथा संगत पाठ छूट न जाए। और जहाँ कुछ भारतीय जी के संस्करण में भाषा का परिमार्जन मात्र किया गया है, उस पाठ को भी वैसा ही रख लिया गया है। भारतीय जी ने जो नीचे प्रमाणों के पते दे रखे हैं, अथवा स्पष्ट करने के लिए टिप्पणियाँ दी हुई हैं, उन्हें भी यथासम्भव रख लिया गया है। और पं० बदरीदत्त जी के प्रकाशन की टिप्पणियाँ भी उचित समझकर यथास्थान दे दी गई हैं। दोनों प्रकाशनों में प्रेस की त्रुटि से अशुद्ध पाठों को तथा पूर्वसंस्करण के परित्यक्त पाठों को भी यथास्थान दिया गया है। और परोपकारिणी-सभा को जिन

पाठ उपदेशों की मराठी-भाषा की प्रति प्राप्त हुई थी, उन-उन उपदेशों का पाठ उस प्रति से मिलाया गया है। इस संस्करण में उस के अनुसार ही पाठ रखा है। उपलब्ध संस्करणों में जो पाठ छूट गए थे, उनका भी यथास्थान समावेश कर दिया है। श्री पं० गजानन हूलवे (नई बस्ती, नया बाजार, दिल्ली) ने मराठी भाषा की प्रति से बहुत परिश्रम से मिलान किया है। वे एतदर्थ धन्यवादार्ह हैं। साथ ही प्रत्येक उपदेश की एक विस्तृत-सूची भी तैयार करके प्रकाशित की गई है, जिससे प्रत्येक पाठ का अल्प समय में ही अनुशीलन किया जा सकता है। और महर्षि द्वारा एक विषय के साथ जो दूसरे प्रसंगगत विषयों का भी व्याख्यान किया है, उनका भी इस सूची से सरलता से बोध हो जायेगा।

आभार प्रदर्शन—

'उपदेश-मञ्जरी' के समस्त प्राचीन सम्पादकों तथा प्रकाशकों का, जिनसे ये महर्षि के उपदेश सुरक्षित रूप में प्राप्त हो सके हैं, हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन पूर्वजों ने जिन पवित्र भावनाओं से इन उपदेशों का संग्रह किया और जिन उदात्त भावनाओं से हिन्दी में अनूदित करके प्रकाशन किया, उनका गुण-गान तो कैसे किया जा सकता है ? उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं। और 'उपदेश-मञ्जरी' के अतीत इतिहास विषय के समस्त परिचय में श्री भारतीय जी के प्रकाशन से पूरी सहायता ली गई है, एतदर्थ उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही ट्रस्ट के अधिकारियों की लोक-हित भावना को तो कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने मानव-मात्र के प्रति हित-बुद्धि रखकर महर्षि के अमूल्य उपदेशों का घर-घर पहुँचाने का दृढ़ संकल्प ले रक्खा है। वे महर्षि के उपदेशों को भी लिपिबद्ध पुस्तकों की भांति उपादेय समझकर 'उपदेश-मञ्जरी' का प्रकाशन कर रहे हैं। वे भी हृदय से अभिनन्दनीय हैं।

तिथि—फाल्गुन-कृष्णा चतुर्दशी
सं० २०३५ वि०
२५ फरवरी, १९७९ ई०

विनीत—
राजवीर शास्त्री
(सं० दयानन्द-सन्देश)

विस्तृत-विषय-सूची



ओ३म्

उपदेश-मञ्जरी

प्रथम-उपदेश

(ईश्वर-सिद्धि-विषयक)

[स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पूना के बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में तारीख ४ जौलाई सन् १८७५* के दिन रात्रि समय में जो व्याख्यान दिया था, उसका सारांश निम्नलिखित है—]

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥[1]

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । [ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद् वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥][2]

[इत्यादि[3] पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा—]

'ओ३म्' यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है, क्योंकि इसमें उसके सब गुणों का समावेश होता है ।

प्रथम हमें ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए, उसके पश्चात् धर्म-प्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है, क्योंकि "सति कुड्ये चित्रम्" इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं होती तब तक धर्म-व्याख्यान करने का अवकाश नहीं है ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥[4]

---

* अषाढ़ शुक्ला १, रविवार वि० सं० १९३२ ।

१. ऋग्वेद १ । ९० । ९ ॥ २. तै० उप० शिक्षावल्ली १ । १ ॥

३. आदि पद से सूचित शेष मन्त्र पाठ कोष्ठक में दे दिया गया है ।

४. यजुः० ४० । ८ ॥

न तस्य कार्य करणं च [विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।]
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[1] ॥

[ये वाक्य कहकर स्वामीजी ने इनकी व्याख्या की ।]

मूर्त्त देवताओं में ये गुण नहीं लगते । इसलिए मूर्त्ति-पूजा निषिद्ध है । इस पर कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभव करने के लिए, भक्तों को मुक्ति देने के अर्थ [ईश्वर को] अवतार लेना चाहिए; परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; इससे अवतार की आवश्यकता दूर होती है, क्योंकि इच्छा मात्र से वह रावण [जैसों] का नाश तो कर सकता था । इसी प्रकार भक्तों को उपासना करने के लिए ईश्वर का कुछ आकार होना चाहिए, ऐसा भी बहुत से लोग कहते हैं; परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि शरीर-स्थित जो जीव है, वह भी आकार-रहित है, यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं, और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्यबुद्धि [अदृष्ट] मनुष्य के विषय में रखते हैं । उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है । इसके सिवाय मन का आकार नहीं है, मन द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है, उसे जड़ेन्द्रिय-ग्राह्यता लगाना यह अप्रयोजक है ।

श्रीकृष्णजी एक भद्र पुरुष थे । उनका महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है, परन्तु भागवत में उन्हें सब प्रकार के दोष लगाकर उनके दुर्गुणों का ढिंढोरा पीटा है ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । इस शक्तिमान् का अर्थ क्या है ? "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" ऐसी शक्ति से तात्पर्य नहीं है; किन्तु सर्वशक्तिमान् का अर्थ न्याय न छोड़ते हुए काम करने की शक्ति रखना, यही सर्वशक्तिमान् से तात्पर्य है । कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा पाप-मोचनार्थ जगत् में भेजा, कोई कहते हैं कि पैगम्बर को उपदेशार्थ भेजा, सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यकता न थी; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं । बल, ज्ञान और क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी हैं । ईश्वर का आदि कारण नहीं है । आदि कारण मानने पर अनवस्था प्रसंग आता है । निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र से हुई प्रतीत होती है, परन्तु सांख्य-शास्त्रकार कपिल मुनि निरीश्वरवादी न थे । उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे ऐसा कोई कहते हैं; परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं किया जाता । वे सूत्र निम्नलिखित हैं—

ईश्वरासिद्धेः । मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।
उभयथाप्यसत्करत्वम् । मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ।[2] इत्यादि,

---

१. श्वेता० उप० ६ । ८ ॥ २. सांख्य १।९२, ९३, ९४, ९५, ॥

परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एक ही है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ऐसा भगवान् कपिल मानते थे, क्योंकि 'पुरुष है' ऐसा उनका सिद्धान्त था। वही पुरुष सहस्र-शीर्षादि सूक्तों[1] में वर्णन किया हुआ है। उसी के सम्बन्ध से वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्[2] इत्यादि कहा हुआ है।

प्रमाण बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इत्यादि। भिन्न-भिन्न शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं।

मीमांसा-शास्त्रकार जैमिनिजी दो प्रमाण मानते हैं। गौतम न्याय-शास्त्रकार आठ, कोई-कोई अन्य न्याय-शास्त्रकार चार, पतञ्जलि योग-शास्त्रकार तीन प्रमाण, सांख्य-शास्त्रकार तीन, वेदान्त ने तो छः प्रमाण स्वीकार किए हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न संख्या मानना, यह उस-उस शास्त्रकार के विषयानुरूप है। सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इस तीन प्रमाणों को लापिका[3] कर ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रयत्न करते समय प्रत्यक्ष की लापिका करने के पूर्व अनुमान की लापिका करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत ही संकुचित और क्षुद्र है। एक व्यक्ति के इन्द्रिय द्वारा कितना ज्ञान हो सकता है? अर्थात् बहुत ही थोड़ा हो सकता है। इससे प्रत्यक्ष को एक ओर रख-कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है। व्यवहार के लिए अनुमान आवश्यक है। अनुमान के बिना भविष्य के व्यवहारों के विषय में हमारा जो दृढ़ निश्चय रहता है, वह निरर्थक होगा। कल सूर्य उदय होगा, यह प्रत्यक्ष नहीं तथापि इस विषय में किसी के मन में तिलमात्र की भी शङ्का नहीं होती। अब [इस] अनुमानके तीन प्रकार हैं—शेषवत्, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टम्। पूर्ववत् अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, शेषवत् अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, सामान्यतो-दृष्टम् अर्थात् संसार में जिस प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है उस पर से जो अनुमान होता है, वह।

इन तीनों अनुमानों को लापिका करने से ईश्वर=परम पुरुष=सनातनब्रह्म सब पदार्थों का बीज [है] ऐसा सिद्ध होता है। रचनारूपी कार्य दीखता है, इस पर से अनुमान होता है कि इस [सृष्टि] का रचने वाला अवश्य कोई है। पञ्चभूतों की सृष्टि आप ही आप रची हुई नहीं है, क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान होने ही से केवल घर नहीं बन जाता, यह हमारा, देखा हुआ अनुभव सर्वत्र है। साथ ही साथ [पञ्चभूतों का] 'मिश्रण' नियमित प्रमाण से विशिष्ट कार्य उत्पन्न होने की ही सुगमता के लिए कभी भी आप स्वयं घटित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते हैं, उसका उत्पादक और नियन्ता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिए।

---

१. सहस्रशीर्षा सूक्त० १०।९०, यजुः ३१॥ २. यजुः ३१।१८॥
३. 'लापिका' मराठी शब्द है, इसका अर्थ है—आलाप=विचार।

अब किसी को यह अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रमाण होना चाहिए, तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है। गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इसी पर से ईश्वर-सम्बन्धी गुण का अधिकरण जो ईश्वर है, उसका ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[1]

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है, किन्तु हिरण्य अर्थात् "ज्योति जिस के उदर में है, वह ज्योतिरूप परमात्मा" ऐसा अर्थ है। मूर्तिपूजा का पागलपन लोगों में फैला हुआ है। इसका क्या उपाय करना चाहिए? यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। मूर्ति का आडम्बर जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा[2] परमात्मा[3] ॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है। उससे जो भिन्न है वह सब झूठा है, वह अपना आधार (मान्य) नहीं है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१. ऋ० १० । १२१ । १ ॥ २. छा० उ० ७ । २४ । १ ॥

३. 'परमात्मा' पद व्याख्यानरूप अथवा अध्याहृत है।

दूसरा उपदेश

[ईश्वर-सिद्धि पर शंका-समाधान]

[मंगलवार ६ जौलाई १८७५* के दिन, श्री १०८ दयानन्द सरस्वतीजी के ईश्वर विषयक व्याख्यान पर हुए वाद-विवाद का सारांश]

१ प्रश्न—कार्य और कारण भिन्न-भिन्न हैं या और किस प्रकार के ?

उत्तर—कहीं-कहीं अभिन्न हैं और कहीं-कहीं भिन्न भी हैं। उदाहरण—मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है, परन्तु मांस-शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस और शोणित ये नख नहीं हैं। इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है, परन्तु इससे मकड़ी जाला नहीं होती।

गोमयाज्जायते वृश्चिकः।

[अर्थात्—गोबर से बिच्छू उत्पन्न होता है।] तो भी गोबर और बिच्छू क्या कभी एक हो सकते हैं ? सर्वशक्तिमत्त्व चैतन्य में [और] चैतन्य पर सर्वशक्तित्व है अर्थात् सामर्थ्य के योग से चैतन्य निमित्त कारण होता है। इस स्थल पर जड़-पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण है वह और निमित्त कारण चैतन्य एक नहीं है। अब—

एकमेवाद्वितीयम्[1]

ऐसी श्रुति है। उसका अर्थ करने में इस उपर्युक्त व्यवस्था से कुछ आपत्ति नहीं आती। कारण, [इसका अर्थ] अद्वितीय अर्थात् ईश्वर ही उपादान हुआ ऐसा नहीं है। कारण, भेद तीन प्रकार का होता है। कभी-कभी स्वजातीय भेद रहता है तो कभी-कभी विजातीय और कभी स्वगत भेद होता है। अब 'अद्वितीय है' अर्थात् 'सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है' ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं। परन्तु यह उपयोगी (=ठीक) नहीं, किन्तु अद्वितीय का अर्थ दूसरा ईश्वर नहीं, अर्थात् एक ही ईश्वर है और वह संयुक्त नहीं है, यही अर्थ है। अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत्।

ऐसे अर्थ की श्रुति है[2], तो अब उसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिए ? अथवा—

---

*आषाढ़, शुक्ला ४, वि० सं० १९३२। सोमवार को द्वितीया-तृतीया सम्मिलित थी।

१. छा० उ० ६।२।१॥

२. द्र—० तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै० उ० २।६)।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।[1]

इस वाक्य का अर्थ कैसे करें ? आधुनिक वेदान्ती 'इदं विश्वं' ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय 'सर्व' इसकी ओर करते हैं, परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रन्थ के पिछले अभिप्राय की ओर दृष्टि देने से 'इदं शब्द का अन्वय 'ब्रह्म' शब्द की ओर करना पड़ता है [जैसे] "इदं सर्वं घृतम्" अर्थात् यह बिलकुल घी है, तेल मिश्रित नहीं, ऐसा सर्व शब्द का अर्थ है। ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने से [कोई] कठिनाई नहीं रहती।

"नाना वस्तु ब्रह्मणि" अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में "य आत्मनि तिष्ठन् आ [त्मनोऽन्तरो यमा] त्मा न वेद"[2] अथवा "यस्य आत्मा शरीरम्"[3] इस वाक्य के अर्थ के विषय में आपत्ति आयेगी, इसका विचार करना चाहिए। एक ही शरीर के स्थान में व्यापक और व्याप्य इन दोनों धर्मों की योजना नहीं करते बनती। गृह आकाश में स्थित है और आकाश यह व्यापक है गृह व्याप्य है। इसलिए आकाश और गृह ये एक ही हैं वा अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान निकालते नहीं आता। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता।

अहं ब्रह्मास्मि ।[4]

इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का [द्योतक] उदाहरण है, यही लौकिक दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है। जैसे 'मेरा मित्र मैं ही हूँ" ऐसा कहते हैं, परन्तु मैं और मेरा मित्र, इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है ऐसा फलितार्थ नहीं होता।

समाधिस्थ होते समय 'तत्त्वमसि[5]' ऐसा मुनि लोग कह गए, परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह भाषण 'जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं' इस मत का पोषक नहीं होता, क्योंकि इसी वचन के पूर्व भाग में इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का ऐतदात्म्य [कथित] है। परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं, 'स आत्मा'[6] वही आत्मा है 'तदन्तर्यामि त्वमसि' जो सब जगत् का आत्मा वह तेरा ही है। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा इनके बीच परस्पर सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते हैं। ऐतरेयोपनिषद् में—

प्रज्ञानं ब्रह्म[7]

---

१. छा० उ० ३।१४।१।।

२. शतपथ माध्यन्दिन पाठ १४।६।७।३०।।

३. श० मा० १४।६।७।३०।।

४. बृ० उ० १।४।१० ।।

५. छा० उ० ६।८,९,१० खण्डों में।

६. छा० उ० ६।८, ९, १० ।।

७. ऐ० उ० ५।३।।

ऐसा वाक्य है। उसके महावाक्य-विवरण में—

प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म[1]

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना, ऐसा अर्थ "तत् सृष्टि प्राविशत्"[2] इस वाक्य पर से करने पर कार्य कारण की अभिन्नता होती है। यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिकों के आधीन होकर सृष्टयुत्पत्ति का कारण हुआ, ऐसा कहने में 'उसको भ्रान्ति हुई' ऐसा प्रतिपादन करना पड़ता है। [जहां] देश, काल, वस्तु [का] परिच्छेद है वहां भ्रान्ति है यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है [अतः] यह विचारणीय वार्ता है।

इसी तरह 'जीव-भावना' भ्रान्ति का परिणाम है। भ्रान्ति दूर होने से जीव ब्रह्म होता है, ऐसी समझ ठीक नहीं, क्योंकि भ्रान्ति परमात्मा में संभव नहीं। आधुनिक वेदान्त के अनुसार मुक्ति को स्वीकार करने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष प्रसंग आता है। और ब्रह्म को यदि एक कहें तो जीव में ब्रह्म के गुण नहीं हैं, जीव को अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नहीं। यदि हम ब्रह्म बन जावें तो हम जगत् भी रच लेवें। इस से पुनः एक बार ऐसा कहना आवश्यक हुआ कि विश्व जड़, ब्रह्म चेतन है और इनका आधाराधेय, सेव्य-सेवक, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

"सुखमस्वाप्सम्" इस अनुभव की योजना करते बनती है. क्योंकि चैतन्य यह नित्य ज्ञानी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किए हुए हैं।

सारांश—जीव ब्रह्म नहीं, जगत् ब्रह्म नहीं। इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न-भिन्न हैं। यही प्रकार सत्य है, परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किए। वह सामर्थ्य उसी के पास सदा रहता है, इस तात्पर्य से भेद नहीं आता।

२ प्रश्न—तुम कहते हो कि अवतार नहीं हुए, तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यों मानते हो?

उत्तर—प्राकृत जनों में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण अर्थात् परब्रह्म ऐसा अर्थ करके इस सम्बन्ध से वाद चलता है, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। "स पर्यगात्"[3] श्रुति पर से अवतार का होना बिलकुल ही नहीं संभव होता। "कविः, मनीषी"[3] "एको देवः[4]-निर्गुणश्च" ऐसे-ऐसे श्रुति वाक्य हैं, इन से ईश्वर सगुण

---

१. द्र० मठाम्ना० उप० ४१

२. तुलना करो—'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' तै० उ० २।६॥

३. यजु० ४०।८॥

४. पूरा पाठ इस प्रकार है—एको देव; सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ श्वेता० उ० ६।११॥

और निर्गुण दोनों है। ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है, परन्तु जड़ के गुण उसमें नहीं हैं। इन गुणों के सम्बन्ध [अभाव] से वह निर्गुण है। प्रथम जो मैंने श्रुति कही उसके साहचर्य की ओर ध्यान देने से यह अर्थ निकलता है।

३ प्रश्न—प्रार्थना क्यों करनी चाहिए, ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् भी है तो उसे हमारे मन की बात विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पाप-विषयिणी प्रवृत्ति हम में रखकर भी हमारे पाप का दण्ड देता है, तो ईश्वर न्यायी कैसा?

उत्तर—हमारे माता-पिता ईश्वर के बनाए हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं। इन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिए। द्वितीय—कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है। तृतीय—परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है। चतुर्थ-प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पाप-वासना का बल घटता जाता है। पञ्चम-सत्यता और प्रेम हम में दृढ़ होते जाते हैं। षष्ठ-स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वरस्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है क्योंकि ज्यों-ज्यों उसके गुण समझ में आते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रीति अधिक दृढ़ होती जाती है।

फिर यह भी है कि उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है। इस उपाय को छोड़ पापनाशन करने के लिए अन्य उपाय नहीं है। काशी जाने से हमारे पाप दूर होंगे यह समझ, अथवा तोबा करने से पाप छूटना, किंवा हमारे पाप का भार अमुक भद्र पुरुष लेकर सूली चढ़ गया इत्यादि अन्य लोगों की सारी समझ अप्रशस्त है अर्थात् भूल पर है। उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी होने से क्षणिक (नाशवान्) वस्तुओं से शोक और आनन्द ये दोनों नहीं होते अब ईश्वर ने जीव स्वतन्त्र किया, इस लिए उससे पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़ पदार्थवत् बना रहता। जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। बच्चे को खुला छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा, यह सोच माता बालक को बांधे नहीं रखती। तो भी बालक दंगा, धूम, फसाद अवश्य करेगा, यह ज्ञान माता को रहता ही है। इस लौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म की सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य में कुछ भी आपत्ति नहीं आती। ज्ञान के विषय में स्वतन्त्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय में उससे दिए हुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतन्त्रता मनुष्य की है। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज हो रहा है वह न होता और जीव-सृष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती।

तीसरा उपदेश

[धर्माधर्म-विषयक]

[गुरुवार ता० ८ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० ८ माह जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सरांश।]

ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः[1] ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[यह स्वामीजी ने प्रथम ऋचा पढ़ी, फिर धर्माधर्म इस विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया—]

परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म।

[व्रतेन दीक्षामाप्नोति[2] इस प्रतीक का शुक्ल यजु:संहिता में का मन्त्र कहा और उसका अर्थ किया।]

अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है? प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्[3] इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे वही सत्य है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास।

अहिंसा परमो धर्मः।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्[4] ॥

धर्म और अधर्म ये अनेक हैं, परन्तु उनमें से विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म हैं। उनका स्वामीजी ने विशेष विवरण किया।

---

*आषाढ़ शुक्ला ६ वि० सं० १९३२।

१ 'ऋक् संहिता मं० १। अनु० १४। सूक्त ८९। मं० ८॥

२. यजु:, १९।३०॥

३. न्यायभाष्य १।१।१॥

४. मनु० ६।९२॥

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपदिष्ट हैं—

प्रथम अहिंसा का लक्षण—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥[1]

अहिंसा—इसका केवल 'पशवादि न मारना' ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं परन्तु व्यास जी ने ऐसा अर्थ किया है कि—

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः अहिंसा ज्ञेया ॥[2]

अर्थात् वैर-त्याग करना।

(२) धृति—अर्थात् धैर्य। राज्य जाये तो भी धर्म का धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए, धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।

(३) क्षमा—अर्थात् सहनता, बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिये किया तो उसे छोटे ने सहन कर लिया यह क्षमा नहीं है। इसे असामर्थ्य कहते हैं, किन्तु शरीर में सामर्थ्य होकर बुरे का प्रतिकार न करना यही क्षमा है।

(४) दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः—मन की वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है, वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है।

(५) अस्तेय—अन्याय से धनादि ग्रहण करना, [या] आज्ञा बिना परपदार्थ उठा लेना स्तेय है और स्तेय-त्याग अस्तेय कहलाता है।

(६) शौच—दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना, यह शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना, यह मानसिक शौच है। शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

(७) इन्द्रियनिग्रह—अर्थात् सारी इन्द्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना। इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर संबन्ध से होता है। मनु ने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥[3]

इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहिनों के साथ एकान्त रहने में भी सावधान रहना चाहिए।

(८) धी—अर्थात् बुद्धि। सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो वैसे ही

---

१. योगदर्शन २।३० ॥
२. योगदर्शन २।३० के व्यासभाष्य में।
३. मनु० २।२१५ ॥

आचरण करने चाहियें, शरीर-बल के बिना बुद्धि-बल का क्या लाभ ? इसलिये शरीर-बल सम्पादन करने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(९) विद्या—योग सूत्र में अविद्या का लक्षण किया हुआ है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।[1]

तस्य हेतुरविद्या।[2]

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्यभ्रम, अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर[3] करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा। यथार्थ दर्शन ही विद्या है। यथाविहित ज्ञान विद्या है। प्रमा[4] के विरुद्ध भ्रम है, विद्या में भ्रम नहीं होता। 'अनात्मनि आत्मबुद्धिः' 'अशुचिपदार्थे शुचि-बुद्धिः' यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं।

जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूँ वा मैं बड़ा राजा हूँ उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना, यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिए। हमारे देश में छोटी अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या-सम्पादन करने में अड़चन होती है। अपवित्र पदार्थ में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान, यह पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।

(१०) सत्य—तीन प्रकार का है, सत्य-भाव, सत्य-वचन, सत्यक्रिया। सत्य-भावना होनी चाहिए, सत्य भाषण करना चाहिए और सत्य आचरण तो करना ही चाहिए। किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिये। असत्य का त्याग करना चाहिये। विकल्प का लक्षण योग-सूत्र में किया है कि—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।[5]

सम्भव कौन सा और असम्भव कौन सा, इसका विचार करना चाहिए। कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदासजी का एक दोहा है कि—

जोजन एक मूँछ रही ठाढ़ी, योजन चार नासिका बाढ़ी।

---

१. योगदर्शन २।५॥ २ योगदर्शन २।४॥

३. 'पाठान्तर' मराठी शब्द है। इसका अर्थ है—'कई ग्रन्थो के वाक्यों को कण्ठस्थ करना'।

४. प्रमा=यथार्थ ज्ञान। ५. योगदर्शन १।९॥

दक्षिण में देव मामलेदार[1] की कोई बात बताते हैं कि उसने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बना दिया था। ऐसी असम्भाव्य बातें हमारे देश में बहुत सी फैल गई हैं। इसलिए प्रमाणों के सहाय से अर्थ विवेचन करके देखने से विचार के अन्त में निश्चय होता है कि झूठ बात कौन सी और सच्ची बात कौनसी है।

(११) अक्रोध—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। स्वाभाविक क्रोध कभी नहीं जा सकता, परन्तु उसे भी रोकना, मनुष्य का धर्म है। क्रोधाधीन होने से बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं।

इस प्रकार का एकादशलक्षणी सनातन धर्म है, [जो मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।]

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥[2]

व्यवहार धर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिए। सारी दुनिया में इसी आर्यावर्त से विद्या गयी। इस आर्यावर्त देश के आर्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है। समुद्र पर चलने वाले जहाजों पर कर लेने की आज्ञा मनु ने अष्टमाध्याय में लिखी है—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥[3]

इससे स्पष्ट है कि समुद्र-यानादिक पहले हमारे लोग बनाया करते थे।

अधर्म—अर्थात् अन्याय, इसका विचार करना चाहिए। मनु ने ऐसा लिखा है कि—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।[4]

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं। [परद्रव्येष्वभिध्यानम् अर्थात्] परद्रव्यहरण अथवा चोरी; मनसानिष्टचिन्तनम् अर्थात् लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईर्ष्या करना; वितथाभिनिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना।

वाचिक अधर्म चार हैं—पारुष्य अर्थात् कठोर भाषण। सब समय सब ठौर मृदु भाषण करना यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'आ अन्धे' ऐसा

---

१. देव मामलेदारकर नाम का एक साधु दक्षिण में हुआ था। उसके विषय में दन्त-कथा प्रसिद्ध है।

२. मनु० २।२०॥

३. मनु० ८।१५७॥

४. मनु० १२।५,६,७॥

कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृत भाषण अर्थात् झूठ बोलना। पैशुन्य अर्थात् चुगली करना। असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जान बूझ कर बात को उड़ाना।

शारीरिक अधर्म तीन हैं—अदत्तानामुपादानम् अर्थात् चोरी। हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म। परदारोपसेवा अर्थात् रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना। किसी मनुष्य ने अपने खेत में की जमीन में न बोकर अपना बीज लेकर दूसरे की जमीन में बोया तो उसे हम क्या कहेंगे? क्या उसे हम मूर्ख न कहेंगे? अपने वीर्य को अगम्यागमन करके खर्च करने हारा तो महामूर्ख है। कोई ऐसा कहने लग जाते हैं कि हम नकद पैसा देकर बाजार का माल मोल लेते हैं, इसमें व्यभिचार वा पाप क्या होगा? परन्तु वे मूर्ख नहीं सोचते कि पल्ले का रुपया खर्च करके अपने अमूल्य वीर्य को खर्च करना यह व्यापार किस प्रकार का है? ऐसा व्यापार करने वाला क्या महामूर्ख नहीं है? अवश्य मूर्ख है।

धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।[1]

यज्ञ—अर्थात् होम। यज्ञ करने से वायुशुद्धि होकर देश में बहुत ही वृष्टि होती है। मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मन्त्रमयी देवता तो मानी है और विग्रहवती देवता कहीं भी नहीं मानी[2]। इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारों ने बहुत सा झगड़ा मिटा दिया, परन्तु—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।[3]

इस पुरुषसूक्त में की ऋचा की व्यवस्था का लगाना जरा अच्छा ही कठिन पड़ता है।

अध्ययन—अध्ययन अर्थात् लड़कों को पढ़ाना, वैसे ही लड़कियों को पढ़ाना यह है।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।[4]

इसमें 'गुरौ वासः' अर्थात् [गुरु के समीप अध्ययन के लिए रहना। परन्तु] कुल्लूक भट्ट ने 'पति के घर में वास करना' ऐसा अर्थ कर अर्थ का घोटाला (= अनर्थ) कर दिया।

पूर्व काल में आर्य लोगों में स्त्रियाँ उत्कृष्ट रीति से पढ़ती थीं। आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो—स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं

---

१. त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनदानमिति। छा० उप० २।२३।१॥

२. मीमांसा ६।१।६ के भाष्य में देवता को मन्त्रमयी कहा है और विग्रहवती देवता का खण्डन किया है।

३. ऋक् सं० १०।९०।१६॥

४. मनु० २।६७॥

और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे। यह सबको विदित ही है।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियां होकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं, फिर [न मालूम] कुल्लूक भट्ट ने 'पतिसेवैव गुरौ वासः' ऐसा अर्थ कहां से किया ? आथर्वण संहिता में—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।[1]

ऐसा स्पष्ट वाक्य है। इस वाक्य को एक ओर रख कर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना बहुत कठिन होगा। सुशिक्षित स्त्रियां कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती हैं। संगति का बल कितना बढ़कर है, इसका विचार करो। विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग पड़े तो उसका परिणाम कैसे लगे ? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़ें इतना ही नहीं; किन्तु सब जातियां वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं, देखो—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥[2]

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥[3]

'शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है' इस मनु-वाक्य का भी विचार करना चाहिए।

अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ा भारी धर्म है। ब्रह्मचर्य के कारण शरीर-बल और बुद्धि-बल प्राप्त होता है। आजकल लड़के-लड़कियों के शीघ्र विवाह करने की बुरी रस्म पड़ गई है। काशीनाथ ने 'शीघ्रबोध' नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है, उसमें ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है, ऐसी बहुत कुछ बकवास की है। इस को बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए होंगे।

स्वयंवर के विषय में मनु का कथन है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥[4]

---

१. अथर्व० ११।५।१८॥ २. यजु० २६।२॥ ३. मनु० १०।६५॥
४. मनु० ९।९०। वहां द्वितीय चरण का पाठ 'कुमार्यृतुमती सती' है।

इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो। यथा—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥[1]

पुरातन सुश्रुत चरकादि वैद्यक के ग्रन्थों में आयु के चार भाग कल्पित किये हैं—(१) वृद्धि (२) यौवन (३) सम्पूर्णता और (४) हानि। इनकी व्यवस्था इस श्लोक[2] में दी है सो देखो—चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति॥

पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम से कम चालीस वर्ष वय [आयु] होनी चाहिए, निकृष्ट पक्ष में भी लड़के की पच्चीस वर्ष की वय होनी चाहिए और लड़की की सोलह वर्ष की वय होनी चाहिए, ऐसा सुश्रुत का कहना है।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्[3]॥

छान्दोग्य उपनिषद्[4] में प्रातः सवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है। यह पुरुषों की कुमार अवस्था है चवालीस वर्ष तक मध्यसवन कहा है। यही यौवन-अवस्था है और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है, जो सम्पूर्णता की अवस्था है। इसके पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिए माना गया है। विवाह होने के पूर्व वेदाध्ययन अवश्य कराना चाहिए। इन दिनों ब्राह्मण लोगों ने वेदाध्ययन स्वार्थवश नष्ट कर दिया है। सो प्रारम्भ होना चाहिए।

अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है। मतलबी पण्डित लोगों ने नये-नये श्लोक बनवाकर लोगों के मनों में भ्रम डाल दिया है, यह बड़े ही दुःख की बात है। इसलिए ऐसा हो कि स्थान-स्थान पर वेद-शालायें हों, उनमें वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवायी जावें अर्थात् वेदाध्ययन को हर प्रकार से उत्तेजना मिले, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

दान—दान शब्द का आजकल जो अर्थ लेते हैं वह नहीं है। पेटभरू ब्राह्मण कहते हैं—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः।

विवेचनामूलक दान सदा होता रहा है। इन दिनों लोगों ने "पीत्वा पीत्वा"

---

१. मनु० ९।८९॥ २. सूत्र॥
३. सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।१३॥ ४. द्र. ३।१६।१—६॥
५. यहां पाठ भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है, 'दत्त्वा दत्त्वा' पाठ होना चाहिए; क्योंकि प्रकरण दान का है, पान (=पीने) का नहीं है।

ब्रह्मापि मृतः" ऐसे-ऐसे वाक्यों को कहकर दान का मिथ्या ही अर्थ किया है। विद्या-वृद्धि के लिए द्रव्य खर्च हो, कला-कौशल की उन्नति के लिए धन लगाया जाय, दीन, अपायज, रोगी, कुष्ठी, अनाथादिकों को सहाय करना सच्चा दान है।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व ही हो चुका है।

गृहस्थ आश्रम में परस्पर प्रीति बढ़कर सामाजिक कल्याण बढ़े, यही मुख्य धर्म है। इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिए मूर्ति-पूजादिक पाखण्ड दूर होना चाहिए।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥[1]

उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते हुए निर्वाह करना चाहिए, यह उनका मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ—इस आश्रम में विचार करना चाहिए। तप अर्थात् विद्या को सम्पादन करना उचित है।

संन्यासी—संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथार्थ उपदेश के विषय में मनु कहते हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥[2]

पंचशिख और शङ्कराचार्य इनका इतिहास देखना चाहिए कि उन्होंने सदा सत्य और सदुपदेश ही किये, उसी प्रकार संन्यासीमात्र को सदुपदेश करना चाहिए।

[इसके अनन्तर स्वामीजी महाराज ने]

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥[3]
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[यह कहकर व्याख्यान समाप्त किया।]

---

१. मनु० ३।६०॥ २. मनु० ६।४६॥
३. तै० आ० ८।१॥

चौथा उपदेश

(धर्माधर्मविषयक)

[शनिवार ता० १० जुलाई १८७५*, धर्माधर्म इस विषय पर दयानन्द सरस्वती ने व्याख्यान दिया[1] उस पर हुए प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—क्या वेदों में मन्त्रमयी देवताओं का अथवा विग्रहवती देवताओं का प्रतिपादन है ? सावयव देवताओं के बिना जड़मति अज्ञानी लोग पूजा किस प्रकार कर सकेंगे और धर्म-व्यवहार में उनका निर्वाह कैसे होगा ?

उत्तर—वेदों के तीन काण्ड हैं—उपासना, कर्म और ज्ञान। परन्तु उपासना-काण्ड में केवल एक उपासना ही का प्रतिपादन हो यही नहीं अथवा ज्ञान-काण्ड में ज्ञान ही का प्रतिपादन हो वा कर्मकाण्ड में कर्म ही का प्रतिपादन हो, यह नहीं। उपासनाकाण्ड में उपासना प्रधान है, परन्तु उसमें ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है। इसी प्रकार सर्वत्र है।

मीमांसा का प्रारम्भ "अथातो धर्मजिज्ञासा" ऐसा है। इसमें कर्म विचार है। इसमें अथ और अतः इन दो शब्दों के अर्थ के विषय में बड़ी ही मेहनत की है और उस पर से भिन्न-भिन्न काण्ड की बिलकुल भिन्न-भिन्न व्यवस्था प्रतीत होती है ऐसा कोई कहते हैं, परन्तु वैसा कहना अप्रशस्त है। आश्वलायन ने जो व्यवस्था की है वह कुछ-कुछ ठीक है, उसे देखना चाहिए। इन दिनों कर्म वेद-मन्त्रों के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि जैमिनि ऋषि ने कर्म-काण्ड में मन्त्रमयी देवता मानी है[2] और कर्म का अधिकार स्नातक और योग्यता को प्राप्त हुए पुरुषों को है। इस पर से यह स्पष्ट होगा कि कर्म विषय में जड़बुद्धि पुरुष की योग्यता नहीं है, ऐसा [सिद्ध] होता है। कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता हो तो मूर्त देवताओं को उसमें घुसने का स्थान नहीं है।

उपासनादिकों को योगशास्त्र का आधार है, जैसे कर्म-काण्ड को मीमांसा का है, परन्तु योगशास्त्र में मूर्ति-पूजा के विषय में कहीं भी वर्णन नहीं है, ज्ञान-काण्ड में मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती, ऐसी सर्व-सम्मति है। इस पर जैमिनि के मत में, व्यास जी के मत में और पतञ्जलि के मत में मूर्ति-पूजा गृहीत नहीं होती अर्थात् पूर्व-मीमांसा-शास्त्र, योग-शास्त्र, उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त-शास्त्र इनमें तो मूर्ति-पूजा का कहीं भी अवकाश नहीं है।

---

*आषाढ़ शुक्ला ७ वि० सं० १९३२।

१. देखो प्रवचन संख्या ३, यह व्याख्यान ८ जुलाई बृहस्पतिवार को हुआ था।

२. मन्त्रमयी देवता का वर्णन पूर्वमीमांसा अ० ९ पाद ३ में है।

अब कोई ऐसा कहे कि स्मृति-ग्रन्थों में मूर्ति-पूजा है और स्मृति को अनुमान से श्रुति-मूलकत्व है[1] उपलब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा का उपदेश न हो तो भी लुप्त श्रुति में मूर्ति-पूजा का विधान है, ऐसा मानकर मूर्ति-पूजा करनी चाहिए। ऐसा श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मानकर अनुपस्थित श्रुति का अवलम्बन करके उपस्थित ग्रन्थों के आधार में जो विचार करना अथवा उसमें गड़बड़ मचाना, यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता। इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखाएँ भी उपलब्ध हैं। शाखा-भेद फिर कई प्रकार का होता है। जो कुछ मूल बीजरूप वेदों में [है] वैसा उपलब्ध शाखाओं में तो न हो, किन्तु लुप्त शाखाओं में होगा, यह कल्पना सयुक्तिक नहीं। आश्वलायन, कात्यायनादि श्रौत-सूत्रकारों को नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बना, इसलिए अमुक मन्त्र नहीं लिए, ऐसे कहीं भी कहते नहीं सुना और शास्त्रव्यवस्था के लिए स्मृत्यवलम्बन करना चाहिए, ऐसा भी उनका कहना नहीं था। हमारा भी यही कहना है कि पूर्वमीमांसा, योग, और उत्तर मीमांसा इन शास्त्रों को कृपा कर लगाओ, विचार कर देखो। इसी प्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्जल महाभाष्य में, नष्ट शाखाओं का गौण प्रकार से भी कहीं सूचक लिङ्ग नहीं है। इससे 'स्मृति का श्रुतिमूलकत्व है', इस मत के द्वारा आधुनिक अशुद्ध व्यवहार के आवश्यकीय उतने ज्ञापकों को निकालना यह बहुत ही अप्रशस्त है। अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्ति-पूजा का कहीं भी विधान नहीं, इसका विचार हो चुका।

अब रहा यह कि मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं के विना अपना निर्वाह कैसे करें? इस प्रश्न पर विचार करें। हमारे विचार से तो मूर्खों को भी मूर्ति-पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़-बुद्धि और फिर उसके पीछे लगाई जाय जड़ पदार्थों की पूजा, तो क्या उसकी बुद्धि और अधिक जड़ न होगी? [क्योंकि] जड़मूर्ति की पूजा से तो जड़बुद्धि में जड़त्व ही जमेगा, इससे उन्नति तो कभी भी न होगी, किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी।

अब यह देखें कि पूजा शब्द का अर्थ क्या है? पूजा शब्द का अर्थ 'सत्कार करना' ऐसा है, न कि षोडशोपचार पूजा। देखो—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव॥[2]

इस स्थल पर माता-पिता, आचार्य और अतिथि इनका पूजन अर्थात् सत्कार करना ही है। उसी प्रकार मनु में भी स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रियवचन इत्यादिकों द्वारा सत्करणीय है [देखो मनु जी क्या कहते हैं—]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥[3]

---

१. स्मृतियों के श्रुतिमूलकत्व अनुमान का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्' (अ० १ पा० ३ सूत्र ३) में किया है। परन्तु श्रुति से विरोध होने पर स्मृति प्रमाणार्ह नहीं, यह मुख्य सिद्धान्त है।

२. तै० आर० ७।४।२॥ ३. मनु० ३।५५॥

जड़ पदार्थों की सत्कार अर्थ वाली पूजा करते नहीं बनती। सचेतन का, सजीव का ही केवल सत्कार करते बनता है! सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिकों का सत्कार करने से बहुत लाभ होते हैं—

मनुष्यों को सत्संग होने से उनकी बुद्धियों का परिपक्वता होकर वे वैशद्य को पहुँचते हैं और उसमें मन्दबुद्धि पुरुषों का कल्याण भी होता है। दूसरा यह कि मनुष्यों में स्वभाव ही से ऐसी इच्छा होती है कि लोग हमें अच्छा कहें, हमारी सुकीर्त्ति हो, आस-पास के लोग भला कहें, हमारे आचरण को ठीक कहें इत्यादि। तो इस इच्छा से उनके मन की सदाचरण की इच्छा दृढ़ होती है; पर यह कैसे हो जब कि उसे सत् मनुष्यों की संगति हो, तब ही हो सकता है, अन्यथा कभी सम्भव नहीं। हमें स्पष्ट विदित है कि जड़ मूर्तियों के सम्मुख मन्दिरों में कैसे-कैसे दुराचरण होते हैं वैसे दुराचरण ५ बर्ष के बच्चे के सम्मुख भी करने की मनुष्य की हिम्मत नहीं होती जैसी कि जड़ मूर्त्ति के सम्मुख करने में लज्जा तनिक भी नहीं आती। इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य से मनुष्य जितना डरता है, उतना जड़ मूर्तियों से नहीं डरता किन्तु यह तो होता है कि लाख मूर्तियों में भी यदि मनुष्य खड़ा किया जावे, उसका चित्त भ्रष्ट और चञ्चल होवे तो वह दुराचरण की प्रवृत्ति आप स्वयं दिखाता है। जड़ पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्नति नहीं होती; परन्तु सद्विचार महाविचारों में मन लगाने से बुद्धि की उन्नति होती है। सत्संगति से, दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न होकर प्रीति सदृश उत्तम गुण उनमें उत्पन्न होते हैं। यह इतना पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ से मूर्तिपूजा के विषय में विचार हुआ।

अब मूर्ति के षोडशोपचार पूजा के विषय पर विचार करना चाहिए। जड़ मूर्ति की केवल जड़ पदार्थ के नाते से पूजा नहीं होती, इसलिए प्रथम उसमें उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है। भावना का अर्थ विचारणा यह होता है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी-जैसी भावना वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है—ऐसा कोई-कोई कहने लग जाते हैं। परन्तु यह उनका मिथ्या प्रलाप है, क्योंकि सब मनुष्यों को सदा सुख प्राप्ति की दृढ़ भावना रहती है फिर उनको सर्वदा सुख प्राप्ति क्यों नहीं होती? उसी तरह पर्वत के बीच सुवर्ण की दृढ़ भावना की जाय तो भी पर्वत सोने का कभी नहीं बन सकता। हमारी भावना के कारण जड़ मूर्ति में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता और प्राण-प्रतिष्ठा करने के पश्चात् मूर्ति सचेतन नहीं होती, आँखों से देखे ऐसा नहीं होता, यह हम सबों को अच्छी तरह मालूम ही है। अस्तु, परमेश्वर का अखण्ड निश्चय इस सब जगत् भर में चल रहा है। उसमें हमारी कृति से कोई परिवर्तन नहीं होगा। जो जड़ है वह जड़ ही रहेगा, और सचेतन वह सचेतन ही समझा जावेगा।

अब रहा प्राण-प्रतिष्ठा के कारण जड़ मूर्तिपूजा के अर्थ मानने का क्या आधार

है—उसे देखो, न तो चारों वेदों में, अथवा गृह्य, श्रौत सूत्रों में और न षड्दर्शनों में कहीं भी प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र दिये हैं तो फिर प्राणेभ्यो नमः इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले, इसका विचार हम हिन्दुओं को, नहीं मैं भूला, हम आर्यों को करना चाहिए। हिन्दू शब्द का उच्चारण मैंने भूल से किया; क्योंकि हिन्दु यह नाम हमें मुसलमानों ने दिया है, जिसका अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि है, सो मैंने मूर्खता से उस शब्द को स्वीकार किया था आर्य अर्थात् श्रेष्ठ यह हमारा असली नाम है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥[1]

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥[2]

भाइयो ! दस्युसदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं, सो स्मरण रहे, अस्तु ।

प्रतिष्ठामयूखादि अथवा लिङ्गार्चन-चिन्तामणि इत्यादि तन्त्र ग्रन्थों में के मन्त्र लेकर हम जड़मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। यदि कोई ऐसा कहे तो [हम] उन तन्त्र ग्रन्थों का कुछ नमूना दिखाते हैं और पूछते हैं कि ये ग्रन्थ माननीय हो सकते हैं वा नहीं ?

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

भला ऐसे-ऐसे तान्त्रिक मन्त्रों के बीच वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आ सके ? इसीलिए जड़मूर्ति में कभी भी चेष्टा नहीं उत्पन्न होती। मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा परन्तु स्वाभाविक जीव रहने वाले सावयव मृत शरीर में, जिसमें प्राण आना चाहिए और मुर्दा जिन्दा हो जाय, परन्तु उसमें वैसा भी नहीं होता, तो फिर व्यर्थ ही इस प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के पाखण्ड में क्या रखा है। अर्थात् कुछ भी ऐसे पाखण्ड से नहीं निकलता।

प्रश्न—भिन्न-भिन्न वर्ण तो आप नहीं मानते, फिर वर्णाश्रमीय धर्म की व्यवस्था आप कैसे करोगे अर्थात् ब्राह्मण कौन ? वैश्य कौन ? क्षत्रिय कौन ? शूद्र कौन हो सकता है ?

उत्तर—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास। सुसंगति, अध्ययनादिकों का अधिकार मनुष्यमात्र को है। फिर जिस-जिस प्रकार का जिस-जिस पर संस्कार होगा उसी-उसी प्रकार उसकी योग्यता मनुष्य मात्र में बढ़ेगी। हमारे देश में कोई बड़ी धर्म-सभा नहीं, जिसके कारण आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था कुछ की कुछ ही हो गई। भला आदमी दुःख उठाता है, [जितने]

---

१. ऋ० १।५१।८॥ २. अष्टाध्यायी ६।२।५८॥

चाहिए उतने मजदूर हर ठौर नहीं मिल सकते, क्योंकि देश भर में साधुओं की टोलियाँ की-टोलियां फिरती हैं। आधुनिक सम्प्रदायों के अनुकूल जो साधु बने हैं, बतलाओ कि उनकी गणना किस आश्रम में की जाए? क्योंकि शास्त्र का आधार छोड़ लोग मनमाने रहने लगे हैं, यह एक प्रकार की जबरदस्ती है। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव से की जा सकती है और प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था इसी प्रकार थी। वे जन्म से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे। जानश्रुति [और] जाबाल ये नीच कुल के थे।[1] जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद् में कही हुई है। उसकी माता व्यभिचारिणी थी, परन्तु गुरु के पास जाकर जाबाल सत्य बोला, इतने ही कथन से गुरु प्रसन्न होकर उससे कहने लगा कि 'जाबाल! तुम सत्य भाषण के कारण ब्राह्मण हो।'[2] ऐसा कहकर उसे ब्राह्मणत्व दिया। अब पुरुष सूक्त में भी एक श्रुति है, उसका भी अर्थ करना चाहिए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[3]

पुरुष सूक्त के बीच में 'सहस्रशीर्षा' यह पद बहुव्रीहि है, तत्पुरुष नहीं है। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इसका अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है। इसी प्रकार [की] पद्धति रखकर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिए।

पूर्णत्वात् पुरिशयनाद् वा पुरुषः। [यह निरुक्त का प्रमाण है][4]

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान्—ज्ञानवान् जो हैं वे ब्राह्मण हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'बाहु' अर्थात् "वीर्य" ऐसा अर्थ दिया है।[5] इससे स्पष्ट है कि जो वीर्यवान् वह क्षत्रिय जानना चाहिए ऐसी व्यवस्था होती है। व्यावहारिक विद्या में जो चतुर हैं वे वैश्य। अब 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस स्थल पर 'पद' इसका अर्थ नीच मानकर मूर्खत्वादि गुणों से शूद्र होते हैं ऐसा [मानकर उन्हें नीच] कहना किस प्रकार चल सकेगा? 'यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे' इस स्थल पर पद की कितनी भारी योग्यता है, यह तुम्हें विदित ही है। इस विचार से शूद्र अर्थात् मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और तब ही मनु जी के वाक्य का अर्थ सम्यक् प्रकार लग जाता है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च॥[6]

---

१. जानश्रुति को छां० उप० ४।२।३ में शूद्र कहा है, जाबाल की कथा छां. उप. ४।४।१-५ में है।

२. छा० उप० ४।४।४-५॥ ३. ऋ. १०।९०।१२॥

४. निरुक्त के नाम से उद्धृत पाठ अर्थतः अनुवाद है। निरुक्त का मूल पाठ इस प्रकार है—'पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।'२।३॥ ५. द्र. 'बाहुर्वै वीर्यम्'। ६. मनु. १०।६५॥

सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है वह ब्रह्मचर्य है, और संसार को एक ओर रखकर अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे वह संन्यास है। गृहस्थियों को समय इन सब कार्यों के करने को नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है बस यही मुख्य भेद है।

अब यदि कहा जाये कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के समान आचरण करने लग जाता है तो उसका ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है? इससे सिद्ध हुआ कि केवल जन्म सिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं, किन्तु आचार-सिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है। जिस समय इस आर्यावर्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था, उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी। यदि कोई कहे कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिए बिना संन्यास न लेना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है। क्योंकि यदि रोग हो तो औषध देना बुद्धिमानी है। उसी प्रकार जिस पुरुष को विषयासक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी नहीं, तो उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु वह तो स्वयं बना बनाया संन्यासी ही है।

गार्गी ने कभी भी संसार-सुख का अनुभव नहीं लिया, वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। संन्यासियों को शरीर-सम्बन्ध तो केवल होता है, शेष व्यवसाय उन्हें नहीं होते। उपदेश करना वा अधर्म की निवृत्ति करना, यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। अब यदि कोई पूछे कि पुत्रोत्पत्ति बिना जन्म कैसे सफल होगा तो उन्हें यह उत्तर है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं—विद्या और योनि से। इन दो ही सम्बन्धों से पुत्र प्राप्ति होती है। "गरीयान् ब्रह्मदः पिता"[1]। मूढ़ लोग जनपद में दुराचार कर-कर किसी आपत्ति में पड़ेंगे सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।

परन्तु इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म अत्याचार हो रहे हैं अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए। एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहें, इत्यादि-इत्यादि प्रतिबन्ध हैं। यदि इन्हें माना जाए, तो भाई! बताओ कि वह फिर किस प्रकार और किसे उपदेश करे? क्या वह एक गाँव से दूसरे गांव दौड़ता फिरे? संन्यासियों को आग को न छूना चाहिए ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे अर्थात् वह तो उनमें बना ही रहेगा। आधुनिक 'विश्वेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है।

फिर आधुनिक साधुओं को तन मन धन का समर्पण कैसे किया जाए? भाई मन का समर्पण कैसे होगा? और तन का समर्पण करने में क्या मल मूत्रादिकों का भी समर्पण होगा? आधुनिक साधुओं ने कुछ विलक्षण ही व्यवस्था बनाई है। उन्हें वेद-शास्त्रों से क्या काम?

---

१. मनु० २। १४६॥

विचारे संन्यासीमात्र को अलबत्ता कष्ट होते हैं। मुझे कुछ धन चाहिए, इसलिए ऐसा कहता हूँ, यह बात नहीं। किन्तु मेरी मनोवृत्ति का साक्षी ईश्वर है। तुम उल्टा मत समझना।

प्रश्न—मूर्त पदार्थों के बिना ध्यान कैसे करते बनेगा ?

उत्तर—शब्द का आकार नहीं तो भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तो भी आकाश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तो भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है, यह किसान भी समझता है। ध्यान यह ऐसा ही पदार्थ है। योग आदि शास्त्र में ध्यान का लक्षण किया—

रागोपहतिर्ध्यानम् ।।[1]

ध्यानं निर्विषयं मनः ।।[2]

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।।[3]

साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् सम्भव नहीं होता कि ज्ञान के पहले ध्यान हो जाय। देखो एक सूक्ष्म परमाणु के भी अधम, उत्तम और मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना में आते हैं। अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढकी हुई मुट्ठी की ओर देखने ही से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें ? तो इससे मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिए और भी दृढ़तर सबल उपाय हैं। देखो ! अनुमान; उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ये आठ[4] उपाय हैं। अनुमान ज्ञान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है। अत्र यह विचारणीय है, अस्तु।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

---

१. सांख्य० ३ । ३० ।।
२. सांख्य० ६ । २५ ।।
३. योग० ३ । २ ।।
४. यहाँ 'पूर्व निर्दिष्ट प्रत्यक्ष की गणना करके 'आठ' संख्या लिखी है।

पांचवाँ उपदेश

[वेद-विषय]

[मंगलवार ता० १३ जुलाई १८७५* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १३ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिये वेद-विषयक व्याख्यान का सारांश ।]

ओ३म् दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥[1]

आज के व्याख्यान का विषय 'वेद' है । तीन प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिए—

(१) वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

(२) वेद का कर्त्ता कौन है ?

(३) वेदों का प्रयोजन क्या है ?

परमेश्वर वेदों का कर्त्ता है । वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या । ज्ञान या विद्या ये सम्पूर्ण सृष्टि-पदार्थों के बीच उत्तम है । ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दुःखकारक होता है, क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती । अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसीलिए "अनन्ता वै वेदाः"[2] ऐसा वचन है । अनन्त यह उसकी संज्ञा है । अनन्त ज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए और उसे ऊँचे दरजे को पहुँचाने के लिए सहज सदा प्रवृत्त है और इसी हेतु को सफल करने के लिए विद्या का प्रकाश करता है, सो वही प्रकाश 'वेद' है । मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के लिए अर्थात् वेद-ज्ञान के अर्थ योग्य अधिकारी है । इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं है ।

अब यदि ईश्वर साकार नहीं, तो उसने वेद का प्रकाश कैसे किया ? ऐसा प्रश्न उद्भूत (=उत्पन्न) होता है । तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि जिस अधिकरण में नहीं हैं तो वहां से शब्दोच्चारण कैसे बनेगा ?

---

*आषाढ़ शुक्ला १० वि० सं० १९३२ ।

१. यजु० ३६ । १८ ॥

२. तै० ब्रा० ३ । १० । ११ ॥

इसका उत्तर देना सरल है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो फिर सहज ही में यह सोच सकते हैं कि उसे मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। शब्दोच्चारण के संयोगादि कारण अल्प-शक्ति वालों को अपेक्षित होते हैं। किञ्च—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥[1]

आप सब यह स्वीकार करते हैं कि हाथ के बिना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की। फिर भला मुँह बिना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी?

कोइ यदि ऐसी शङ्का करे कि वेद-रूपी पुस्तकों की रचना तो शक्य काम है इसके लिए ईश्वर की साक्षात् कृति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता? परन्तु इस स्थल पर जरा विचार करना चाहिए। विद्या और जड़ सृष्टि-रचना में महत् अन्तर है। जड़-रचना ही केवल परमेश्वर ने कर दी तो इससे उसका बड़ा माहात्म्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विद्या के सम्मुख जड़ सृष्टि-रचना कुछ भी नहीं है। इसलिए विद्या का कारण भी ईश्वर ही है, ऐसा मानना चाहिए। अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण करके विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे, यह कैसे [सम्भव] हो सकेगा?

अब वेद-विद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इसका तात्पर्य क्या है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है। तो उसका उत्तर यह है कि आदि विद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्त्वमात्र ईश्वर द्वारा प्रकाशित हुआ। उसका विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यास द्वारा होता है।

अब यह आदि-विद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किए हैं, उसके प्रमाण—

(१) प्रथम प्रमाण यह कि वेद में पक्षपात नहीं। ईश्वर सब जगत् पर [समान रूप से] अनुग्रह करने वाला है। इसलिये तत्प्रणीत जो वेद, उसमें पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है, इसलिये उसमें पक्षपात की सम्भावना नही हो सकती। जिसमें पक्षपात हो वह विद्या ईश्वर-प्रणीत नहीं है। इसका उदाहरण—वेद की भाषा क्या [है]? संस्कृत ही ना? संस्कृत भाषा वेदों की है क्या यह पक्षपात नहीं है, ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। [क्योंकि] संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषायें उसमें परम्परा से उत्पन्न हुई हैं एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है। 'जयस्' इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'जी' यह शब्द उत्पन्न हुआ—उसी तरह 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि। ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार से भी होते हैं। इसके विषय में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं। ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह

---

१. तुलना करो—श्वेताश्वतर उ. ३।१९।

संस्कृत-भाषा में भी अनन्तानन्द है। इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक, सर्व भाषाओं की माता, ऐसी दूसरी कौन सी भाषा है ? अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं।

अब यदि कोई कहे कि यह भाषा एक ही देश की क्यों होनी चाहिए ? तो देखो, संस्कृत-भाषा एक ही देश की नहीं है। सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है। इसलिए सर्वज्ञान का मूल जो वेद, वे भी संस्कृत में हैं। जिस-जिस देश में संस्कृत भाषा पहुँची, उस-उस देश के विद्वान् लोगों के मन का आकर्षण करती जाती है और यह दूसरी भाषाओं के मातृ-स्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है।

फिर देखो कि वेद ही में की कुछ-कुछ मुख्य-मुख्य बातों का प्रचार जगत् के सारे देशों में चल रहा है। यहूदी लोग सदा वेदी रचते और यज्ञ करते थे, यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था ? उन्हें होता, उद्गाता, ब्रह्मा इनकी व्यवस्था के साथ यज्ञ करना विदित नहीं। परन्तु इसमें कुछ विशेष भेद नहीं। हम आर्यों की रीति की उन्हें भूल हुई। इसी तरह पारसी लोग भी अग्यारी में अग्नि पूजा करते हैं। क्या यह आचार वेद-मूलक नहीं है ?

वेद में पक्षपात नहीं, यह स्पष्ट है। यहूदी लोग अन्य लोगों से द्वेष करना सीखे थे, मुसलमान लोग दूसरों को "काफिर' कहते हैं और उनके धर्म-पुस्तकों में ऐसा करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिए वेदों में उत्तेजन नहीं हैं। इसलिए वेद ईश्वर प्रणीत है ऐसा [सिद्ध] होता है।

२—**द्वितीय प्रमाण**—वेद यह सुलभ ग्रन्थ है। अर्वाचीन पण्डित अवच्छेदक-अवच्छिन्न पदों को घुसेड़ कर बड़े लम्बे-चौड़े परिष्कार करते हैं। परन्तु उन परिष्कारों में केवल शब्द-जाल मात्र रहता है, विशेष अर्थ-गाम्भीर्य नहीं होता। इस प्रकार के वेद ग्रन्थ नहीं हैं।

जब कोई कहे कि दुर्बोध के कारण परिष्कार में काठिन्य पाण्डित्यसूचक है, तो आप जानते हैं कि जब कौवे आपस में लड़ते हैं तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पड़ता, तो क्या दुर्बोध के कारण काक-भाषा में पाण्डित्य की सम्भावना होगी ? कभी नहीं। अस्तु, वाक् सुलभता और अर्थ-गांभीर्य्य, यही सामर्थ्य का प्रमाण है। ज्ञानप्राप्ति क्लेश बिना होना यह ईश्वर-कृति का दर्शक है। यों ही "शक्यतावच्छेदक शक्यतावच्छिन्न" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो भगवान् वात्स्यायनजी ने प्रतिपादन किया है, उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानीति शक्यप्राप्तिः।[1]

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महापण्डित क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा गंवार ठहराया जा सकता है ? नहीं-नहीं। फिर वात्स्यायन की भाषा की अपेक्षा तो वेदों की भाषा लाख-दरजा सरल है।

---

१. न्याय० वा० भाष्य १।१।३२॥

(३) तृतीय प्रमाण—वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं। जैसे—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥[1]

मनुष्यों के बनाए हुए पुस्तकों में एक ही विषय का प्रतिपादन रहता है। जैमिनिजी के सारे मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मी इस विषय में विचार करते-करते पूर्ण हुआ। भगवान् कणाद के मन का ओघ[2] षट् पदार्थों के विवेचन के विचार ही में समाप्त हुआ। इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण-भाष्य और योग-शास्त्र की व्यवस्था लगाने में भगवान् पतञ्जलिजी की सारी आयु बीती परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण हैं, एसलिए वेद मनुष्य-कृत नहीं हैं, किन्तु ईश्वर प्रणीत ही हैं। अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद हैं अर्थात् वेद में सारी विद्याओं के मूलतत्त्वों का दिग्दर्शन मात्र है। उदाहरणार्थ देखें—

वाराह्योपानहोपनह्यामि०
सहस्रारित्राँ शतारित्रां नावमित्यादि०[3]
एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे०॥[4]

प्रथम उद्धरण में रचना विशेष[5] का निरूपण किया हुआ है, दूसरे में नौका-शास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणित-शास्त्र का निरूपण बतलाया है।

अब यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने सब विद्याओं के मूल तत्त्व ही क्यों प्रकाशित किए और साद्यन्त विद्या और कला का क्यों विवरण नहीं किया? तो उसमें मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धि व्यापार का, उसी तरह बुद्ध्युन्नति का भी अवकाश रखा।

(४) चतुर्थ—कोई-कोई ऐसी शंका भी करते हैं कि वेद अनेक पुरुष घटित हैं, तो इसका यह उत्तर है कि यदि अनेक पुरुष घटित वेद होते तो वेदों में [जो] एकवाक्यतादि गुण हैं, उनकी व्यवस्था कैसी लगाओगे?

पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्यायें भरत-खण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं। जैसे विमान-विद्या, अस्त्र-विद्या इत्यादि। विद्याओं के पुस्तक नष्ट होने से वे विद्यायें

---

१. यजु० १६। ६४॥
२. "ओघ" मराठी शब्द है इस का अर्थ प्रवाह है।
३. 'शतारित्रां नावम्' इत्यादि पाठ ऋ० १। ११६। ५ में मिलता है।
४. यजु० १८। २४॥ ५. उपानह्=जूते की रचना।

भी नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया। जैनियों ने भी ऐसा ही अनर्थ किया। सन् १८५७ के साल के लगभग जब दंगा-फसाद हुआ था, उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवे के भारी पुस्तकालय में आग लगा दी थी—ऐसी दन्त-कथा है। इस पर विचार करो कि कितनी विद्या नष्ट होती आई है।

उपरिचर नामक राजा था। वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हुआ हवा ही में फिरा करता था। पहले के जो लोग लड़ाइयाँ लड़ते थे, उन्हें विमानरचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है। भाई! उस समय दरिद्रों के घर में भी विमान थे। भला सोचो कि उस व्यवस्था के सम्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या हो सकती है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

(५) **पञ्चम**—वेद सनातन सत्य हैं, इससे उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है। देखो शार्मण्य (जर्मन) देशों के लोग वेदों का अवलोकन कर उनकी कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं। इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के सत्य के सामर्थ्य से हो रहा है, सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता; सुगम रचना, भाषा-लावण्य, निष्पक्षपातता, सर्व विद्यामूलकत्व, ये गुण वेदों ही में केवल सम्भावित होते हैं। इसी से वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। इन दिनों हमारे अंग्रेजी पढ़े हुए लोग अंग्रेजी ग्रन्थों की खटपट देखकर वही सच है, ऐसा मानते हैं, सो यह ठीक नहीं है। [उधर] हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग जो परम्परा न छोड़ने के विषय में हठ करके बैठे हैं। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रेल में प्रवास करते समय उनकी परम्परा का हठ किधर जा घुसता है? क्या बाप अन्धा हो तो पुत्र को भी अपनी आँखें फोड़ लेनी चाहियें? मतलब [यह है कि] इतनी परम्परा को पकड़ रखने से धर्म प्रबन्ध में बड़ी गड़बड़ मच गई है। इस गड़बड़ को विचारने से कलेजा धड़कने लग जाता है।

देखो! चारों ओर जाति-विभाग होकर हम निर्बल हो गए हैं। पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं। यह सब हमारा बल किधर चला गया? आग्नेय अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ? आजकल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रोच्चार के सामर्थ्य से आग्नेयास्त्रादि निर्माण होते थे; परन्तु ऐसा नहीं है। मन्त्रों के कारण आग उत्पन्न होती थी, यदि ऐसा मानें तो मन्त्र बोलने वाला स्वयं कैसे नहीं जलता था? तो भाई ऐसा नहीं है। मन्त्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेत-मात्र सम्बन्ध है और [दाहक] सामर्थ्य नहीं। जैसे अग्नि शब्द में दाहकत्व नहीं है, तद्वत् मन्त्र जपने में कोरा समय खोना है। व्रतबन्ध (जनेऊ) के समय लड़के का अल्प सामर्थ्य रहने से एक ही मन्त्र उसे बार-बार रटना पड़ता है। इससे यह मन्त्र का एक सच्चा विनियोग नहीं है। मन्त्र का अर्थ है विचार। राजमन्त्री कहने से विचार करने वाला, यही सत्य अर्थ होगा। यदि यह अर्थ न मानो तो राजमन्त्री वा अमात्य का, राजा का माला लेकर जप करने वाला ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, तो मन्त्री,

शब्द का अर्थ जप करने वाला नहीं, किन्तु विचार करने वाला ही होता है। तो वेद-मन्त्र का सच्चा विनियोग करना अर्थात् बुद्धि-वैशद्य, बुद्धयुन्नति, बुद्धि-प्रकाश, बुद्धि-सामर्थ्य को बढ़ाना यह है। इस प्रकार का सामर्थ्य पहले आर्यों में था। वे एक ही मन्त्र को लेकर जपने नहीं बैठते थे, परन्तु अनेक मन्त्रों की मीमांसा करते थे। इसीलिए वरुणास्त्र, आग्नेयास्त्रादि उन्हें विदित थे अर्थात् पदार्थों के गुणों को जान उनकी विशेष योजना वे करते थे। विशल्यौषधि नामक उन्हें एक औषधि विदित थी. जिससे कैसा ही जख्म क्यों न हो इस औषधि से झट भर आता था। पहले बंगाल में आर्य लोगों की वैद्यक विद्या की लोग हंसी उड़ाते थे। परन्तु डाक्टर महेन्द्रनाथ सरकार सदृश विद्वान् पण्डित ने चरक सुश्रुत सदृश ग्रन्थों का उज्जीवन किया, जिससे अंग्रेजी सीखे हुए लोगों का भ्रम दूर हुआ। महेन्द्रनाथ ने प्राचीन आर्य ग्रन्थों का उज्जीवन करने के लिए बहुतसा धन इकठ्ठा करने का प्रयत्न चलाया है, सो यह उनका भूषण है, पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥[1]

सृष्ट पदार्थों के विवेचन करने के लिए, उसी तरह ईश्वर के ज्ञानप्राप्त्यर्थ बुद्धि-सामर्थ्य को सम्पादन करना, यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है। वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यासजी ने संग्रह अर्थात् संहिता बनाई, ऐसा आजकल के पण्डित लोग कहते हैं, परन्तु भाई! इसमें उनकी भूल है; क्योंकि मनु ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया। ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच उनके चार ही मुख होंगे। यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो बेचारे ब्रह्माजी को बड़ा ही दुःख हुआ होता और फिर बेचारे सुख से कैसे सोते? तो ऐसा नहीं है, किन्तु 'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः' ऐसा समास करना चाहिए। प्रथमारम्भ में ईश्वर-ज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुए और उनसे ब्रह्माजी ने सीखे और पश्चात् उन्होंने सारी दुनिया भर में फैलाये, और उनसे मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिए उनका 'वेद' ऐसा नाम है, और पहले ऋषि लोग एक दूसरे से सुनते आए, इसलिए 'श्रुति' ऐसा वेदों का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इस पर कोई कहेगा कि ये आदि में चार ही ऋषि क्यों थे. एक या अधिक क्यों न थे, तो ये शंकायें पाँच या तीन भी होते, तब भी बनी रहतीं। यह अशोकवनिका न्याय[2] होगा।

---

१. मनु० १।२३॥

२. अशोकवनिका न्याय का भाव यह है कि रावण ने सीता को अशोकवन =अशोकवाटिका में नजरबन्द रखा, उस पर कोई कहे कि अशोकवन में ही क्यों रखा, अन्यत्र क्यों नहीं रखा? यह प्रश्न अशोकवन से अन्यत्र भी सीता को रखा जाता, तब भी उत्पन्न होता। यही स्थिति प्रकृत प्रसंग में है यह वक्ता का अभिप्राय है।

अब कोई कहे कि वेद आधुनिक हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्मदेव के मन में ज्ञान-लहर उत्पन्न हुई, और उसी समय से वेद की परम्परा चल सकी है, फिर नित्य कैसे ? सो भाई ! इस प्रकार नहीं है। देखो ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है, और ज्ञान-रचना नित्य है, सृष्टि का तथा वेदों का आविर्भाव तिरोभाव ही केवल [होता] है, क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।[1]

इत्यादि वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान के प्रमाण हैं।

ब्रह्माजी के पीछे विराट् उत्पन्न हुआ, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्ष, प्रजापति, स्वायंभुव मनु आदि हुए। इन ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया।

अब यह व्याख्यान पूर्ण करने के पूर्व वेद-विषय में साधारण विचार करना चाहिए।

कोई-कोई कहते हैं कि चांद, सूरज आदि भूतों की पूजा वेदों में उपदिष्ट है; परन्तु यह कहना बिल्कुल सम्भव नहीं।

(शुक्ल यजुर्वेद)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥[2]

तथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति [अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः] ॥[3]

अग्नि, इन्द्र, वायु ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं। इसलिए अनेक देवताओं का वाद बिल्कुल सम्भव नहीं।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥[4]

परिच्छेद, प्रकार, विकार इत्यादि सम्बन्ध से एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न नाम हो सकते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि वेदों में बीभत्स कथा भी हुई हैं। 'माता च ते पिता च ते'[5] इस वचन पर महीधर ने भाष्य कर बड़ा ही बीभत्स रस उत्पन्न किया है। 'गभे' के स्थान पर वर्ण विपर्यास कर 'भगे' यह शब्द निकाला है, परन्तु इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण को देखो—

---

१. ऋ० १०।१९०।३ ॥ २. यजु० ३२।१ ॥
३. ऋ० १।१६४।४६ ॥ ४. द्र० मनु० १२।१२२, १२३ ॥
५. यजु० २३।२४ ॥

वृक्ष वृक्षो राज्यं भगश्रीः स्पर्शो राष्ट्रं श्रीर्वा वृक्षस्याग्रम् ।[1]

इस प्रकार राष्ट्र के स्थान पर इस वचन की योजना करने से बीभत्सपन नहीं रहता।

इसी तरह पुराणों में काश्यपीय प्रजा का वर्णन है। मरीचि का पुत्र कश्यप है, दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ; इस प्रकार का वर्णन किया हुआ है। इस कथा के लिए वेदों में कहीं भी आधार नहीं है। कश्यप अर्थात् आद्यन्त के विपर्यास से 'पश्यकः' परमात्मा का नाम तो हो सकता है।

पश्यकः सर्वदृक् परमात्मा गृहीतः।[2]

इसी प्रकार किसी ने कोई कथा करने के लिए 'ब्रह्मोवाच' लगाकर कुछ कथा बना अनेक पुराणों का पाखण्ड रचा है। इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक सम्प्रदायी लोगों ने तो बहुत ही किया है।

ब्रह्मोवाच

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते ॥

इस सम्प्रदाय का बाजार आजकल खूब गरम है। इसके कारण जो दूकानदारी प्रारम्भ हुई है उसे सम्प्रदायी लोग क्यों कर छोड़ेंगे। यजमान की चाहे तीन जन्म तक की हानि हो तो उनका क्या मतलब? इसलिए जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेदों का अवलोकन करेंगे, तब इन सम्प्रदायियों की लूट बन्द होगी, तब ही कण्ठी द्वारा वैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। भाई! सोचो जो एक ही कण्ठी से वैकुण्ठ मिल जाय तो बिसाती को कुल कुण्ठियों की पेटियां गले में लटकाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता? चन्दन तिलक और छापों से यदि स्वर्ग मिल जाय तो सारे मुंह पर चन्दन लीपने से क्यों न सुख मिले? इसलिए भाई! सोचो चन्दन, तिलक, कण्ठी ये सब पाखण्ड सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-हरण करने के लिए हैं। ये सच्चे तीर्थ नहीं हैं। सच्चे तीर्थ कौन से हैं सो इसके विषय वचन है—

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः[3] सतीर्थ्यः सब्रह्मचारी[4] विद्याव्रतस्नातः[5]।

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात, व्रतस्नात होते थे, इससे वेदविद्या ही मुख्य तीर्थ है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१. द्र० शत० १३।२।६।७॥
२. द्रष्टव्य—कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्। तै० आ० १।८॥
३. छा० उ० ८।१५।१॥
४. ये दोनों पद 'तीर्थे ये, चरणे ब्रह्मचारिणि (अष्टा० ६।३।८७, ८६) पाणिनीय सूत्रों के क्रमशः उदाहरण हैं।
५. द्र० पारस्कर गृह्य० २।५।३२॥

छठा उपदेश

जन्म-विषयक

[शनिवार ता० १७ जुलाई १८७५* को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० १७ जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे दिए जन्मविषयक व्याख्यान का सारांश—]

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देव हितं यदायुः ॥[1]

[स्वामी जी ने प्रथम यह ऋचा कही ।]

आज के व्याख्यान का विषय 'जन्म' यह है । अब जन्म का अर्थ क्या है इसका लक्षण प्रथम करना चाहिए । शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य परमाणुओं का संघात जब होता है तब जन्म होता है, अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया-योग्य जब शरीर होता है, तब जन्म होता है । सारांश यह है कि इन्द्रिय और (प्राण) अन्तःकरण ये शरीर के मध्य जब उपयुक्त होते हैं तब जन्म होता है, जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा इनका संयोग । इससे स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा इनका वियोग मरण कहलाता है ।

अब इस जन्मान्तर के विषय में अनेक मत हैं । कोई कहते हैं कि मनुष्य का एक ही जन्म है अर्थात् मरने के पश्चात् फिर पुनर्जन्म नहीं होता । कोई कहते हैं कि जन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य को मरने पर फिर दूसरे जन्म [प्राप्त होते] हैं ।

हमारा सिद्धान्त—मनुष्य का पुनर्जन्म है अर्थात् जन्म अनेक हैं—ऐसा है ।

एकजन्मवादियों के और अनेक जन्मवादियों के कथन में बहुत सी युक्ति-प्रयुक्तियों का आधार है । अब उन युक्ति-प्रयुक्तियों का विचार करें । 'गतानुगतिको लोकः' इस न्याय से परम्परागत ज्ञान का स्वीकार करना यह विद्वानों को उचित नहीं । तर्क-वितर्क करके निर्णय करना, यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है ।

एकजन्मवादी ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं कि इस जन्म के पूर्व दूसरा जन्म होता तो उस जन्म का हाल कुछ भी तो स्मरण रहना चाहिए था और जब कि पूर्व जन्म का कोई स्मरण नहीं है तो इससे पूर्व जन्म न था, यही कहना ठीक है ।

इस पूर्वपक्ष का समाधान हम यों करते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है—स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है । स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है और

---

* आषाढ़ शुक्ला १४ वि० सं० १९३२ ॥

१. यजुर्वेद २५।२१ ॥ ऋ० मं० १ अनु० १४ सू० ८९ मं० ८ ॥

नैमित्तिक ज्ञान को घटती-बढ़ती, न्यूनाधिक और हानि-लाभ आदि ये सब प्रसंग आते रहते हैं। इसका दृष्टान्त—जैसे अग्नि में 'दाह करना' यह स्वाभाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म तो अग्नि के परमाणुओं में भी रहता ही है। यह उसका निज धर्म उसे कभी भी नहीं छोड़ता। इसलिए अग्नि की दाहक-शक्ति का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान समझना चाहिए। फिर भी देखो कि [अग्नि के] संयोग के कारण जल में उष्णता धर्म उत्पन्न होता है; और वियोग होने से वह उष्णता धर्म नहीं रहता। इसलिए जल के उष्णता विषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञान है जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान होता है। अब जीव को—मैं हूँ अर्थात् 'अपने अस्तित्व का' जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान है; परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा जैसा कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे-वैसे संस्कार आत्मा पर होते हैं। अब जैसे-जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है, अर्थात् पूर्व जन्म का देश, काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता। इसको छोड़ इस विचार में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान का ही स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद करके आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान एकदम स्फुरित हो सकते नहीं। इस नियम की लापिका से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भली-भांति हो जाता है। इस जन्म में 'मैं हूं' अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक-ठीक रहता हैं, इसलिए, पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता।

फिर इसी जन्म ही में कैसी-कैसी व्यवस्था होती है इसका ही विचार करें। मैं ही जो इतना भाषण कर चुका हूँ, उस भाषण का उसी तरह उस सम्बन्ध के मनोव्यापार का, सब परम्पराओं का मुझे स्मरण कहां रहा है? हां भाषण के स्थूलावयव का तो अवश्य स्मरण है; परन्तु बोलते-ही-बोलते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण हो गया है। इससे यह नहीं मानते बनता कि मैंने भाषण नहीं किया, फिर देखो बाल्यावस्था में जो बातें हुईं उनका अब विस्मरण हुआ है। इससे बाल्यावस्था थी ही नहीं—ऐसा मानते नहीं बनता। पुनरपि जागृत अवस्था में जिन-जिन बातों का स्मरण रहता है, उन-उन बातों का निद्रा में सर्वथैव विस्मरण होता है। इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता, इतने ही से पूर्वजन्म की असम्भवता सिद्ध नहीं होती। दो जन्म के बीच मृत्यु आ फंसी है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्यावृत अन्धकार के बीच में गिरना है।

फिर देखो—मन का धर्म कैसा है, इसका विचार करो। मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में राग द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसको विस्मरण होता है। फिर अर्थापन्न ही पूर्व जन्मावस्था में दूरगत

पदार्थ-विषयक यदि आत्मा को विस्मरण होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अर्थात् इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

मैं एक दृष्टान्त देता हूं। पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते रहते हैं। उनमें से कुछ लड़कों को अपने विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है, दूसरों को समझने में कुछ विलम्ब लगता है और तीसरे को तो उसी विषय को उपस्थित करने में बड़ी ही कठिनता पड़ती है। इस प्रकार यहीं-के-यहीं ही उत्तम बुद्धि, मध्यम बुद्धि और अधम बुद्धि ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार दीखते हैं, तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उपस्थिति के विषय [में] कितनी दिक्कत होती होगी, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। इससे जन्म एक ही है, ऐसा प्रमाण मानना, यह बिल्कुल युक्तिविरुद्ध है।

ज्ञान यह आठ प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ऐसे आठ प्रकार हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिल्कुल ही क्षुद्र है। अव्यभिचारी, अव्यपदेशी और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से कभी भी नहीं होता।

इससे दूसरे ज्ञानसाधन का अवलम्बन करना चाहिए। दृष्टान्त कि कोई वैद्य नहीं है, ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो मुझे किस कारण से यह रोग हुआ, यह नहीं जान सकता। तो फिर उस विचारे को रोग के निदान का ज्ञान कहां से हो सकता है? जिस रोगी को ऐसा ज्ञान नहीं है तो इससे उसे रोग ही नहीं है, यह कहते नहीं बनता। क्योंकि कारण विना कार्य नहीं होता। इसलिए इस रोग का भी कुछ-न-कुछ कारण होना ही चाहिए—ऐसा अनुमान होता है। रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान नहीं, इससे रोग का कारण नहीं, ऐसा भी क्या कभी किसी ने माना है? कभी नहीं। आगे रोग देखकर और उसका निदान और चिकित्सा करके अमुक-अमुक कारण से यह रोग उत्पन्न हुआ है, ऐसा अनुमान प्रमाण के बल से वैद्य ठहराता है और वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी योग्यता अनुमान प्रमाण की है, अस्तु।

परमात्मा न्यायकारी और निष्पक्ष है, यह बात भी सब स्वीकार करते हैं। ऐसे न्यायकारी परमात्मा द्वारा निर्मित संसार में लोगों की स्थिति के बीच और सुख लाभ में बड़ा ही भेद दीखता है; यह भी निर्विवाद है। इसके विषय में एक दृष्टान्त देना चाहिए। देखो एक ही मां-बाप के दो पुत्र हुए और उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिए रखा और उनके खाने-पीने की व्यवस्था भी एक ही सी रखी। ऐसा होते हुए भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होने से वह बड़ा विद्वान् और नीतिमान् होता है और दूसरा भूलने वाला मूर्ख, ऐसा ही रहता है। सो बतलाओ इसका कारण क्या है? इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में तो कुछ भी नहीं है और भेद तो प्रतीत होता है। ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया, ऐसा कहें तो ईश्वर पक्षपाती

ठहरता है। ईश्वर ने नहीं किया, ऐसा कहें तो भेद की उत्पत्ति होती नहीं। इससे पूर्व जन्म है, ऐसा ही मानना अवश्य होता है। पूर्व जन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह व्यवस्था होती है, ऐसा माने विना दूसरी कोई भी कल्पना जमती भी नहीं, अस्तु।

एक-जन्मवादी ऐसा कहेंगे कि ईश्वर स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है। जैसे कोई माली अपने वगीचे में जैसे चाहे वैसे वृक्ष लगाता और उन वृक्षों में खाद डाल उन्हें बढ़ाता है, उसी तरह जगत् में ईश्वर की लीला है। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य ईश्वर में मानने से ईश्वर के न्यायकारित्व की हानि होती है और उन्मत्त प्रसंग ईश्वर पर आता है। परन्तु सब प्रकार सृष्टि-क्रम के और वेद के अवलोकन से परमेश्वर न्यायी है, ऐसा सिद्ध होता है। तब इस विरोध का निराकरण करने के लिए पूर्व-जन्म था, ऐसा मानना ही चाहिए। यदि ऐसा न मानें तो स्थिति-भेद कैसे उत्पन्न होता है, इसका सम्यक् (ठीक-ठीक) उत्तर मिलता नहीं। संग-प्रसंग भेद से यह स्थिति भेद हुआ ऐसा भी कहते नहीं बनता; क्योंकि संग-प्रसङ्ग भेद की कल्पना जहाँ नहीं है, ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है, वह भी सबों के लिए कहां समान रहती है। पेट में होते हुए एक जीव के लिए सुख होता है तो दूसरों को वहीं क्लेश होते हैं। एक धर्मात्मा के पेट से जन्मता है और दूसरा पाप-स्थान में जन्म लेता है। तो बताओ यह भेद कहां से और क्योंकर हुआ ? पूर्व-जन्म न मानने से इस भेद के कारण ईश्वर पर कितना भारी दोष आता है, इसका कुछ विचार करो।

पूर्व-जन्म विषयक उपर्युक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जीव की शरीर-चेष्टा होने से पूर्व प्रथम हमें प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है, फिर स्मृति होती है और पश्चात् किसी कार्य के विषय में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, यह प्रकार सर्वत्र प्रतीत होता है। अब देखो कि शरीर योनि में से बच्चा बाहर पड़ने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है, तो यह प्रवृत्ति उसे पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगी ? माता का स्तन खींचकर दूध पीने लग जाता है, यह प्रवृत्ति कहाँ से हुई ? दूध के विषय में तृप्त होने पर निवृत्त होता है, तो यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है ? माता ने कुछ धमकी दी, तो झट बच्चा समझता है, तो यह पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगा ? इससे निश्चयपूर्वक पूर्वजन्म था, यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है।

पुनरपि, सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम यदि देखा जाय तो उस सादृश्य से जीव सृष्टि का भी पूर्व-जन्म था। यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी भी जन्म होने वाले हैं। इस परम्परा से इस मध्य-जन्म की सम्भावना तभी हुई जब कि पूर्व-जन्म पहले था, क्योंकि यदि कुयें में जल न हो तो डोल में पानी कहां से आवे ? इस दृष्टान्त की योजना इस स्थल पर ठीक होती है।

अब कोई यह कहे परमेश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुए बैठा है और यह व्यवस्था कभी तो बिगड़ती है और कभी सध भी जाती है। जैसे ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में कहा है कि ईश्वर ने एक सुन्दर बगीचा बनाया और उसमें एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा रख उसमें एक ज्ञानबल्ली भी लगा रखी और परमेश्वर ने दोनों स्त्री-पुरुष को आज्ञा दी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो, तब सहज ही उन स्त्री-पुरुषों ने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा तो परमेश्वर को बड़ा गुस्सा आया, फिर तो ईश्वर ने उन्हें वहां से निकाल दिया परन्तु अब सोचो कि यदि ईश्वर की व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा? इसलिए ऐसी-ऐसी व्यवस्था ठीक नहीं। इसलिए एक-जन्मवाद भी नहीं जमता। ईश्वर सब जगत् का धारणमात्र करता है; परन्तु उसने कृति एक ही बार कर रखी है, ऐसा जानना चाहिए। कोई ऐसा न समझे कि उसने सात दिन श्रम किया और आठवें दिन आराम किया अर्थात् विश्राम लिया। यह कहना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय में किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार बगीचे के बीच जो व्यवस्था की, उसे एक समय भूला और फिर उसे ठीक करूं, यह ईश्वर के मन में आया; इसलिये उसने लोगों के पाप-निवारणार्थ यह व्यवस्था की, यह कहना भी ठीक-ठीक सम्भव नहीं होता। मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है, यह मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को [परे] फेंक सत्य की परीक्षा करें, यही उनका भूषण है।

अब कोई ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं कि राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी ले जाता है। इसमें एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है, ऐसा कहना यह भ्रम है। राजा के मन में परचक्र की अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःख का पहाड़ उत्पन्न करती रहती है, इसलिए बाहर से जितना राजा को सुख होता है उतना ही अन्दर से दुःख रहता है। रात्रि को नींद आने में भी हाय बांय मचती है। इधर देखो तो इसके बिलकुल विरुद्ध कहारों को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है, पालकी वहना (ले जाना) पड़ता है और रूखी-सूखी रोटी उसे मिलती है तो भी कम्बल डालकर लेटते ही गाढ़ निद्रा में सोता है अर्थात् उसे नींद स्वस्थता से आती है। इससे दोनों स्थितियों में सुख-दुःख समान ही हैं। इसलिए एक जन्म ही मानना ठीक है।

इस पूर्व पक्ष का समाधान सहज ही में किया जा सकता है—

श्रीमानों और दरिद्रियों को, सशक्तों और अशक्तों को सुख-दुःख समान ही है, यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है। राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के भी एक पुत्र हुआ। राजपुत्र को गर्भ समय में सुख, जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख, खान-पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में ले सेवक लोग तैयार खड़े रहते हैं। इसके विरुद्ध भंगी के लड़के को गर्भ समय में दुःख, जन्मते समय किसी पाषाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यावस्था में

खाने-पीने में भी रोना पीटना मचा रहता है, वस्त्र का तो नाम तक निकालते नहीं बनता, अन्न-जल के लिए कई बार रो-रो कर जी घबराना पड़ता है। सारांश-इस प्रकार के अनेक कार्य दृष्टिगत होते हैं तो बतलाओ। यह सुख-दुःख का भेद कहां से आया? फिर देखो सब मनुष्यों की 'सम्पत्ति मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की सी स्थिति प्राप्त हो' यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है, यह भी तुम देखते ही हो। इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख का भेद वास्तविक है अर्थात् भ्रम नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। अब यदि सुख-दुःख का भेद है और जन्म भी एक ही है, तो ईश्वर इससे अन्यायी ठहरता है। ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना यह हमारे प्रथम सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसलिए जन्म अनेक हैं यही कहना योग्य है, अर्थात् ईश्वर न्यायकारी है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दण्ड देता है, अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना ही उसे दुःख भोगना पड़ता है, ऐसा सिद्ध होता है।

कोई-कोई ऐसा पूर्वपक्ष करते [हैं] कि मनुष्य [योनि में] पाप करने के कारण वह पशु योनि में गया, ऐसा कुछ काल के लिए मान भी लें; परन्तु पशु होकर "मैंने पाप किया इसलिए पशु-जन्म मुझे प्राप्त हुआ है" ऐसा यदि उसको ज्ञान नहीं है तो ज्ञान विना दण्ड भोगना, यह व्यवस्था किस प्रकार की है?

इसका समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है। दुःख भोगते भी दुःख के कारण का ज्ञान कभी नहीं रहता। अघोरी बन बहुत सा खा लिया और फिर उसके कारण किसी रोग ने शरीर को जकड़ लिया, तो उस समय जो दुःख होता है, उस दुःख के कारण—उसके असल सबब का स्मरण होता हो, ऐसा कभी भी देखने में नहीं आता। इसी तरह अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होंगी अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेंगी।

अस्तु, इस संसार में सुख-दुःख के जो भेद दीखते हैं उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। कारण के विना ये कार्य नहीं हो सकेंगे। इन सुख-दुःख के भेदों के कारण पूर्व जन्म के कर्म हैं। इसलिए शेषवत् अनुमान से सुख-दुःखादि के भेदों की व्यवस्था ठीक-ठीक लग जाती है। अब कर्मों के विषय में कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं। नाना प्रकार के आत्मा पर जो संस्कार होते हैं उनके कारण नाना प्रकार के मानस कर्म उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि उन-उन कर्मों के योग से .पाप-पुण्य उत्पन्न होने चाहियें। इस प्रकार पाप-पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं होता, पापों को भोगना ही पड़ता है, वे कभी भी नहीं छूटते।

अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर की भक्ति, प्रार्थना आदि करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दण्ड नहीं देता, सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है कि ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दण्ड नहीं चुकता; किन्तु यह तो सम्भव है कि आगे के होने वाले पापों से ही केवल निवृत्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिए यत्किञ्चित् भी भीति किसी को भी न होती।

अब इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी चाहिए। कोई-कोई ऐसी शंका करते हैं कि ईश्वर-सर्वज्ञ है, उसे हमारे मन के सारे भाव विदित ही हैं अर्थात् जैसे पतिव्रता की सी भक्ति किस की है और वेश्याओं के सदृश भक्ति किसकी है, यह उसे विदित है। हम मनुष्यों को तो प्रसंगवशात् ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव, पाप-पुण्य, वासना और परमेश्वर-भक्ति-भावना ये सब प्रत्यक्ष हैं। यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से वह दया कर पाप-दण्ड से न छुड़ावें तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी ? ऐसी शंका है। इसलिए मुक्ति किसको कहते हैं इसका ही प्रथम विचार करें।

मुक्ति अर्थात् ईश्वर प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना, यही मुक्ति का लक्षण है। इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सदानन्द स्थिति प्राप्त होती है। शोक से चित्त बिगड़ता है यह तो ठीक ही है, परन्तु हर्ष से भी चित्त बिगड़ जाता है, इसे दिखलाने के लिये दृष्टान्त देना चाहिए। किसी गरीब आदमी को लाख रुपया एक दम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपन आ घेरता है। सब को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ईश्वर को छोड़कर चाहे कितने ही दूसरे कर्म किए जायें, परन्तु उनसे आत्मा मुक्त नहीं होती। मुक्त होने के लिए जो कुछ है वह एक ईश्वर प्राप्ति ही कारण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि जब हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते हैं तो अवश्य सृष्टि का कहीं-न-कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिए और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, उस समय योनि-भेद था। यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों की नीच योनि में जायँ और कुछ एक मनुष्य की योनि मे जायँ, यह कैसे ?

इस पूर्वपक्ष का समाधान ऐसा है। कोई ऐसा कहते हैं कि पहले परमेश्वर ने एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया, फिर स्त्री ने सर्प के कहने से ज्ञानवल्ली का फल खाया, तब स्त्री के अपराध के कारण स्त्री-पुरुष पतित हुए। इसलिए जगत् में पाप और पुण्य घुसा। तो ऐसी-ऐसी गपोड़ कहानियों को कहकर हम अपना समाधान नहीं करते, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? और इस विषय में आर्य लोगों ने शास्त्र द्वारा सूक्ष्म रीति से क्या विचार किया है ? उसे देखें। जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है, उसी स्थिति में प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी। इसलिए वर्त्तमान सृष्टि को उत्तर-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ और पूर्व सृष्टि को आदि-सृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूँ जिससे झट समझ में आ जाय।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ॥ इत्यादि ॥[1]

---

1. तै० उ० ब्रह्मा० १ ॥

आदि सृष्टि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किए "ततो मनुष्या अजायन्त" इत्यादि यजुः संहिता[1] में है, परन्तु उनमें अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति (कर्म) के कारण भेद न था। उन सबों को केवल आहार-विहार और मैथुन इतना ही विदित था और इन विषयों से भी सब प्राणी एक ही से और एक रस थे। सब शरीर सब जीवों के भोग के लिये हैं अर्थात् एक ही जीव के लिये नहीं हैं, ये सब जीव-जन्तु परमेश्वर से उत्पन्न हुए।

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सं प्रतिष्ठाः।[2]

तथाक्षरात् सोम्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते, इत्यादि ॥ (छान्दोग्यो०)

जैसे छोटे बच्चों को अब भी यहां पर स्थित रहते हुए और उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता, उसी तरह इस आदि-सृष्टि में सब मनुष्य बाल्यावस्था में थे। उनकी अशिष्टाप्रतिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन या प्रतिषेध नहीं लगाए थे, नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप को देखें, श्रोत्रों से अपना काम करें अर्थात् शब्द सुनें. पांव से अपना काम करें अर्थात् इधर-उधर फिरें बस इससे और विशेष व्यापार आदि-सृष्टि में नहीं था। ऐसी व्यवस्था आदि-सृष्टि में पांच वर्ष चलती रही, फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेद-ज्ञान दिया।

ओ३म् खम्ब्रह्म।[3]

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।[4] (य० सं०)

अब वेद ज्ञान से पाप-पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा-वैसा आचरण भेद होता गया, फिर प्रत्यक्ष ही है कि पाप-पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही कार्य उत्पन्न होने लगे। मनुष्य पाप के कारण पशु जन्म को गए और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य जन्म में आए। आदि-सृष्टि में पशुओं को एक दफे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। फिर तो आचार भेद अनुकूल पाप-पुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर में आ फंसे।

अब कोई-कोई ऐसी भी शंका करें कि मनुष्य को पाप-वासना ही क्यों हुई? तो उसका इतना ही समाधान है कि परमात्मा ने मनुष्यों को स्वतन्त्रता दी है और उस स्वतन्त्रता के जो-जो परिणाम होवेंगे, उन्हें भी स्वीकार करने चाहिए। सुख के सब सामान होने पर भी यदि स्वतन्त्रता नहीं है तो वह स्थिति दुःखमिश्रित स्वतन्त्रता होकर अतिदुःखसह होती है। तब पाप-वासना होती है यह अपनी स्वतन्त्रता का विकार है इसके लिए ईश्वर पर दोष नहीं लगा सकते। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि दुःख-विशेष देश नरक है और सुख-विशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रकार के

---

१. य० सं० अध्याय ३१ में 'साध्या ऋषयश्च ये' पाठ है ऊपर उद्धृत पाठ श० १४।४।२।५ में मिलता है।

२. तु०—छा० उ० ६।८।४॥ ३. यजुः ४०।१७॥ ४. यजुः ४०।८॥

प्रदेशों में मनुष्य का पाप-पुण्य के अनुकूल एक समय [अर्थात्] जगत्-प्रलय के समय में न्याय कर अनन्तकाल तक सुख वा दुःख में ईश्वर रखेगा। ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा। ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव नहीं है। प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने-अपने पाप-पुण्य के अनुसार हमें बुरा-भला जन्म मिला करता है।

पाप-पुण्य मनुष्य जन्म ही में केवल होते हैं। पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये पाप-सम्पादन नहीं होते।

कोई-कोई शंका करते हैं कि मनुष्य-जन्म एक ही समय मिलता है अथवा अनेक बार ? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य जन्म वारम्बार प्राप्त होता है। अब पहले कह ही चुके हैं कि—

मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना है तो वह कैसे आती है ? इस विषय में कोई-कोई कहते हैं कि गरुड़-पुराण में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण-हरण करने के लिए यमदूत आते हैं। इन यमदूतों के मुख दरवाजे इतने बड़े होते हैं और शरीर पर्वत के सदृश होते हैं, यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है। निरुक्त में अन्तरिक्ष काण्ड है, उसमें वायु के यमराज धर्मराज ये नाम दिए हैं—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैव हृदि स्थितः।

इससे जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु में, वायु के द्वारा अन्य योनि के बीच उसका प्रवेश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

मरने पर जीव वायु में मिलता है, ऐसे-ऐसे हमारे उपदेश से अज्ञानी लोगों की हानि होगी, विद्वानों की क्या हानि हो सकती है ? अर्थात् विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है। हां ! अवश्य धूर्त्तों की हानि हो तो हम निरुपाय हैं।

कोई ऐसा भी कहते है कि 'जीव (=प्राण) ले; परन्तु जीविका न ले'। हमारे भाषण से वा लेख से गरुड़ पुराणादिक ग्रन्थों के विषय में लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न होने से सहज ही कट्टहाओं की जीविका डूबेगी तो उससे हमें पाप लगेगा, सो भाई हमें इसका भय नहीं है। कारण, राजा दुष्ट लोगों को दण्ड देता है। [उससे उसे पाप नहीं लगता] उसी तरह हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो उसमें हमें पाप किस बात का लगेगा ? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन, याजन करने का अधिकार है। उन्हें मतलब सिन्धु साधने के लिए कट्टहापन का धन्धा करना वा जन्म-पत्रिका बनाना या आप ही शनि बन लोगों को लग जाना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि ये सब पाप आजकल के उन ब्राह्मणों के सिर चढ़ते हैं। जरा विचार तो करो कि कहीं भी सारे महा-भारत भर में [एक स्थान पर भी] जन्म-पत्रिका का वर्णन आया है ? कहीं भी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्य-विद्या में नहीं है, यह स्पष्ट है।

मृत्यु-समय में यमदूत जीव को ले जाता है इससे यह आशय समझें कि वायु जीव का हरण करता है। अस्तु, वायु मनुष्य का हरण करता है और फिर आगे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर-नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन जाता है। इसमें वैतरणी नदी और गोपुच्छादि सदृश पाखण्ड मत को अवकाश कहां से हो सकता है? अर्थात् इन सारे प्रलापों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं।

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं, इन गपोड़ कथाओं का वर्णन करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जगत् में कितनी योनियां हैं इसका शोध लगा, गिनकर हमारे शास्त्री लोग बतावें।

विद्वांसो हि देवाः।[1]

शतं ये मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि०॥[2] (तै० उपनिषद्)

जिनके पाप-पुण्य सम होते हैं, वे मनुष्य जन्म पाते हैं। जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है वे देवता, पापातिशय के कारण तिर्यग् योनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इन्हें भोगकर जब ही पाप-पुण्य सम हुआ कि मानो मनुष्य जन्म प्राप्त होता ही है। इस प्रकार पाप-पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने नियत कर रखी है और यही व्यवस्था यथार्थ है। इस प्रकार आदि सृष्टि का वर्णन हुआ।

अब कोई ऐसी शंका निकाले कि पूर्व कृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी लाभ नहीं है क्या? उसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पाप-क्षय नहीं होता; परन्तु आगे पाप करना बन्द हो सकता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥[3]

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी कृत पापों को तो भोगना ही होगा। इसका दृष्टान्त—जैसे कोई कुये में गिरा और उसके हाथ-पांव टूट गए, तो अब चाहे जितना पश्चात्ताप करे, तो भी उसके हाथ-पांव जो टूटे सो तो टूट ही चुके, वह तो कुछ भी किए नहीं छूट सकता। हां आगे के लिए कुयें में न गिरेगा, इतना ही केवल होगा।

---

१. शत० ३।७।३।१०॥
२. द्र०—तै० उप० ब्रह्मा० ८।
३. मनु० अ० ११ श्लो० २३०॥

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है, तो पाप-पुण्य भोगने के लिए देश, काल, वस्तु ये साधन भी अवश्य चाहिएं। इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा ? जब कि भोग न भोगा जावेगा, तो फिर आनन्द भी कैसे प्राप्त होगा ? अब इस पर कोई ऐसा कहेगा कि मुक्त समय में शरीर न होने पर जीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होकर वह परमेश्वर को ही प्राप्त होता है, फिर एक परमेश्वर ही उसका आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द समय में शरीर का प्रयोजन नहीं है। तो जानना चाहिए कि शरीर अर्थात् भोगायतन, वह इस जगत् में पाप-पुण्य भोगने का साधन है, इसका सम्बन्ध मुक्तावस्था में नहीं है।

अब पुनरपि मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है ? इसका विचार करें।

कोई ऐसी शंका करता है कि इस जन्म में पूर्व-जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा। जिस ज्ञान का निमित्त छूटता है तो उस ज्ञान का भी विस्मरण हो जाता है।

युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।[1] (गौतम सूत्र)

ये सब आपत्तियाँ अमुक्त आत्मा को लगती हैं, परन्तु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिसकी आत्मा उसमें सञ्चार कर सकता है और जिनके आत्मा से पूर्वजन्म संस्कार निकल चुके हैं वह और जिसके आत्मा में शान्ति उत्पन्न हुई है, जिसके आत्मा को अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है और जिसकी दृष्टि को और मनोवृत्ति को ज्ञान सुख के विना अन्य सुख विदित नहीं है, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसे मुक्त पुरुषों को देश, काल, वस्तु परिच्छेद का [युगपत्] ज्ञान होता है, उन्हें युगपत् ज्ञान की अटक नहीं है इसका दृष्टान्त— जैसे एक कण शक्कर का यदि चींटी को मिले तो वह उसे ले जाना चाहती है; परन्तु उसे वहीं एक शक्कर का गोला मिल जाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चींटी लिपट जाती है; इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

१. न्यायदर्शन १।१।१६॥

सातवाँ उपदेश

यज्ञ और संस्कार-विषयक

[मङ्गलवार ता० २० जुलाई सन् १८७५ ई०*]

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥[1] य०सं०

[यह ऋचा बोलकर स्वामी जी ने व्याख्यान का आरम्भ किया।] यज्ञ और संस्कार क्या है? इसका विचार आज कर्त्तव्य है।

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है? यज्ञ के साधन कौन-कौन से हैं। उसकी कृति कैसी है? और उनके फल कौन-कौन से हैं? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं इनके उत्तर अब हम यथाक्रम देते हैं—

'यज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—प्रथम देवपूजा, दूसरा सङ्गतिकरण और तीसरा अर्थ दान है।

अब प्रथम देव-पूजा के विषय में विचार करें। केवल देव पद का मूल अर्थ द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप है, और वेदमन्त्रों की भी देव संज्ञा है, क्योंकि उनके कारण विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है। यह यज्ञ कर्मकाण्ड का विषय है। यज्ञ में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त का समावेश होता है। देव शब्द का अर्थ परमात्मा भी है, क्योंकि उसने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है। देव अर्थात् विद्वान् ऐसा भी अर्थ होता है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रन्थ में 'विद्वाꣳसो हि देवाः'[2] ऐसा वर्णन किया है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

'पितृभिर्भ्रा०'[3]। पूजितोऽतिथिः। पूजितो गुरुः, इत्यादि।'

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार करना. यह अर्थ होता है। चेतन पदार्थों का केवल सत्कार सम्भावित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्तियों का सत्कार नहीं सम्भव होता। मुख्यतत्त्व से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता

---

*श्रावण कृष्ण २ वि० सं० १९३२ (दाक्षिणात्य मत में आषाढ़ कृष्णा २)

१. यजु० ३६।१७।। २. शत० ३।७।३।१०।। ३. मनु० ३।५५ ।।

है। इसलिए प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में मन्त्रों की योजना की है। इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय कहा है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। म० भा०।[1]

इसीलिए ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन भी पांच महायज्ञों में से एक है।

स्वाध्यायेनार्च्चयेदर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।[2] (मनु०)

इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।

अब दूसरा अर्थ—संगतिकरण—अर्थात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक, प्रेमपूर्वक, देवता का ध्यान, देवता का विचार तथा सत्पुरुषों का सङ्ग करना, इसे भी यज्ञ ही कहते हैं।

अब तीसरा अर्थ दान है—विद्यादान को छोड़ दूसरे दान, नहीं हैं। केवल विद्या का दान ही दान है, अन्न-वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं, इसलिए उन्हें भी दान कहना उचित है। विद्यादान अक्षय दान है।

अब यज्ञ से क्या-क्या फल होते हैं, इसका विचार करें। यज्ञ का रूढ्यर्थ वेदों में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना है, तो इसमें ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि व्यर्थ ही काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को अग्नि में क्यों जलावें? इसका समाधान यह है कि—

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—जनतायै यज्ञो भवतीति।[3] (शतपथ ब्राह्मण)

पुष्टि, वर्धन, सुगन्ध प्रसार और नीरोग्य ये चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं। ये लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने पर ही होते हैं। कहा है कि—

संस्कृतं हविः होतव्यमिति। (शतपथ ब्राह्मण)

योग्य रीति यथाविधि होम करना चाहिए। एकदम मन भर घी जला दिया या चम्मच-चम्मच करके मन भर घृत को वर्ष भर जलाते रहे, तो भी होम नहीं होगा। फिर कोई-कोई कहते हैं कि होम अर्थात दैवतोद्देशक त्याग है। देवता लोग यजनदेश में आकर सुगन्ध लेते हैं। इसलिए होम करना चाहिए, तो यह कहना अप्रशस्त है।

क्या देव-लोक में सुगन्धि की न्यूनता है, जो वे हमारे क्षुद्र हविर्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं?

---

१. गीता ३।१५॥ गीता महाभारत के अन्तर्गत ही है।

२. मनु० ३।८१॥

३. तुलना करो—यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति। ऐ० ब्रा० १।२॥

इसी तरह कोई-कोई कहते हैं कि श्राद्ध आदिकों में पितृ लोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे [क्षुधार्त और] तृषार्त्त रहते हैं। तो क्या वे [भूखे] प्यासे रहकर भूखों मरेंगे ? और पितृलोक में सब दरिद्रता ही दरिद्रता है ? सारांश यह कि [यह] सब समझ और विचार ठीक नहीं है। क्योंकि देव-लोक में वा पितृ-लोक में कुछ न्यूनता नहीं है। होम हवन उनके उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु, सुवृष्टि और वायु-शुद्धि होम-हवनादि से होती है, इसलिए होम करना चाहिए। क्योंकि सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धि-वैशद्य को वायु और जल का ही आधार है। इसमें दृष्टान्त सुनो कि इन दिनों पंढरपुर[1] में बड़ा हैजा (विषूचिका) जारी है तो वहां का जलवायु ही बिगाड़ का कारण हुआ। हरद्वार में एक समय मेला हुआ था,[2] वहां पर वायु बिगड़ने से हजारों मनुष्य कालवश हुए अर्थात् मर गए। ब्रह्माण्ड में संचार करने वाला जो वायु है, वही जीवन का हेतु है। अन्तर वायु द्वारा ठीक-ठीक व्यापार होवें, इसलिए बाहर का ब्रह्माण्ड-वायु शुद्ध रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड वायु शुद्ध करने के लिए यज्ञकुण्ड में घृत [आदि] पुष्टि-कारक, कस्तूरी केशरादि सुगन्धित द्रव्यों का हवन करना चाहिए। सुगन्धित द्रव्यों के दहन (जलाने) से ब्रह्माण्ड वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है। इस हवन के कारण जो सुगन्ध उत्पन्न होता है उस सुगन्ध के सम्मुख वायु के सब दुष्ट दोष दूर होकर नैरोग्य उत्पन्न होता है।

अब कोई-कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शंका करें कि पदार्थों का दहन होने से उनका पृथक्करण होकर उनके गुण नष्ट हो जाते हैं, तब फिर हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा ? इस विषय में हमारा प्रथम उत्तर यह है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं। उनमें स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता, संयोगजन्य गुणों का वियोग से ह्रास (घटती) होता है। यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों में न माने जायं तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा ?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ा ही तेल निकलता है, इसलिये समुदाय स्थित बहुत से तिलों का तेल बहुत निकलता है। एक जल परमाणु में शीतलता है इस लिये परमाणु समुदायरूप जल का शीतलता स्वाभाविक धर्म है। सुगन्धित पदार्थों का सुगन्धि स्वाभाविक गुण है, वह दहन से फैलता है, उसका नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगन्धि जलाने से दुर्गन्धि का नाश होता है, यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसा ही तद्-गुणविशिष्ट अर्क निकलता है। अर्क अर्थात् आसव सत्त्व अतर आदि द्रव्य।

अग्नि-परमाणु में जो गुण हैं, वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होकर मेघ-मण्डल तक विस्तीर्ण होते हैं और उससे वायु-शुद्धि परिणाम होता है।

---

१. हिन्दुओं का एक यात्रा स्थान है।

२. वि० सं० १९२४ में, उस समय ऋषि दयानन्द भी वहां गये हुए थे।

अब कोई ऐसी शंका करे कि होम एक छोटी सी कृति है, इससे ब्रह्माण्ड वायु कैसे शुद्ध होगा, समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डालने से क्या सारा समुद्र सुगन्धित और शुद्ध होगा ?

इसका समाधान यह है कि सौ घड़े रायते में थोड़ी-सी हींग के बघार से [सुगन्ध और] रुचि आ जाती है, यह प्रत्यक्ष है। इसकी जैसी उपपत्ति समझी जाती है तद्वत् ही यह प्रकार भी है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि होम तो यहाँ करो और अमेरिका में उसका परिणाम कैसे होगा ?

इसका समाधान यह है कि वायु द्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले, यह वायु का धर्म है। [इसके] सिवाय—यदि सब लोग अपने-अपने घर में आर्यसम्मत रीति से हवन करें तो यह शका ही नहीं सम्भव होती। पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान कर बारह आहुति देता था, क्योंकि प्रातःकाल में जो मल-मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी, वह इस प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्धि उसका नाश होकर रात भर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी। प्राचीन आर्य लोग बड़े ही बुद्धिमान् थे, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। फिर अमावस्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था। उससे भरतखण्ड में वायु शुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे ? इसका विचार करने से यह छोटा ही सा प्रकार है। ऐसा किसी को भी प्रतीत न होगा। अब वायु शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है। वृष्टि और वायु का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और सब देश का जल वृष्टि से उत्पन्न होता है।

जल स्वच्छ और वायु के भी स्वच्छ रहने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस ये बड़े ही शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं। इसलिए शरीर को सुख होकर अन्न से बल उत्पन्न होता है। प्राचीन आर्य लोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसंग में करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वायु और जल की दुर्गन्धि नष्ट होकर उनमें शुद्धि और पुष्टि वर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचरों को सुख होता है, इसीलिए कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत, सुखकाम इति शेषः ॥ (ऐतरेय, शतपथब्राह्मण)

होम—हवन से परमेश्वर की सेवा कैसे होती है, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे विचार करना चाहिए कि सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है। परमेश्वर की सेवा अर्थात् उसको जो प्रिय है वह आचरण करने से वह न्यायकारी होने के कारण उसके द्वारा योग्य प्रत्युपकार होता है, ऐसा एक नियम ही है। अब स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष अथवा विद्या और नरक अर्थात् दुःख विशेष अथवा अविद्या है। विद्या स्वर्गप्राप्ति का तथा बुद्धि-वर्धन का कारण है। बुद्धि-वर्धन को शारीरिक दृढ़ता अवश्य चाहिए और

शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्धान्न के बिना शरीर-दृढ़ता कैसे प्राप्त होगी? होम-हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है। उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करें कि वायु शुद्ध्यर्थ यदि हवन है तो उसमें वेद-मन्त्रों के पठन की क्या आवश्यकता है और होम करने में अमुक ही रीति की ईंट रखकर अमुक ही प्रकार की वेदी बनावे, ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिये?

इस शंका का समाधान यह है कि विशेष योजना के अनुकूल कोई भी बात किए बिना उससे विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता। इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुल ऊंची गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उसमें नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से, अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है और उष्णता के कारण वायु शुद्ध होकर जल परमाणु वायु में उड़ जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत् उत्पन्न होती है और मेघ-मण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है, इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गड़गड़ाहट अर्थात् इन्द्र-वज्र-संपातजन्य शब्द वर्णन किया हुआ है। इसका सच्चा अर्थ यह है कि इन्द्र अर्थात् सूर्य और सूर्य की उष्णता के कारण विद्युत् और मेघ गर्जनादि कार्य होते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि को मारता है सो यह बात बिलकुल झूठ है। बलि राजा पाताल में राज्य करता है और पाताल अमेरिका देश है, सो अब उस अमेरिका में बलिराजा कहां पर है? इसी तरह वेदी की एक आध ईंट यदि टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है। यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलब-सिद्धि की है। वे कहते हैं कि हम जो कहें उसे बछिया के बाबा की नाईं सुनो, शंका मत करो, शंका करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे, इत्यादि धमकियां धूर्त लोग देते रहते हैं।

अब होम समय में वेद [मन्त्रों का] पठन किस लिए है यह पूछा था, सो इसका उत्तर यह है कि दो काम यदि एक ही समय में हो सकते हों तो उन्हें करना चाहिए, ऐसा उद्देश्य कर प्राचीन आर्य लोगों ने जब हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में लगाया, तब मुंह खाली न रहे, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना मुंह से होती रहे, इसलिए पहले के ऋषि लोग वेद-मन्त्र बोलते थे। इसके लिए ब्राह्मण लोगों ने वेद कण्ठस्थ आज तक किया, इसीलिए वेद-विद्या भी अबलों बनी रही है। फिर यह भी था कि वेदपाठ करने से परमेश्वर की भक्ति होती थी, जिससे विचार-शक्ति भी उत्पन्न होती थी।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे ।[1] (ऋ०सं०)

दूसरा ऐसा भी विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं, उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इससे मन्त्रोच्चार कर्म के उद्देश्य से नहीं होता, किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुंह से होती रहे, यही प्रधान उद्देश्य है और कोई-कोई मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें होम के लाभ कहे गए हैं। सारांश यह कि वेद-मन्त्रों को कहने से वेद की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार कर्मकाण्ड बिलकुल निष्फल नहीं है। अस्तु,

कोई-कोई ऐसी शंका करेंगे कि वेदों में बीभत्स कथायें क्यों हैं?

उत्तर—वेदों में तो बीभत्स [अश्लील] कथायें कहीं भी नहीं हैं। ऐसी- ऐसी कथायें अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते हैं, सो यह दोष वेद पर नहीं लग सकता। यह केवल भाष्यकार की बीभत्स बुद्धि का दोष है। दृष्टान्त जैसे किसी सुवासिनी (=सौभाग्यवती) स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया तो विधवा क्या कहती है अर्थात् आशीर्वाद देती है कि 'आओ बहिन मुझसी हो!' बस, इसी प्रकार मतलबी लोगों ने मन-माना अर्थ वेदों में निकाला है। शतपथ ब्राह्मण को देखो—

श्रीर्वा राज्यस्याग्रमित्यादि० ।[2] (शतपथ ब्राह्मण)

जब कोई ऐसा कहे कि अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है। इससे ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है, सो ठीक है; परन्तु इसके सम्बन्ध में जो-जो बीभत्स कथायें लिखी हैं उन्हें पढ़ते हुए मानों उलटी आती है तथापि ऐसा बीभत्सपना कभी भी प्रचार में न आया हो तो यह कहते नहीं बनता, क्योंकि पद्धति-निरूपक ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व बौद्ध लोगों ने जो-जो ग्रन्थ बनाये उनमें ऐसी-ऐसी बातों का उद्देश्य कर ब्राह्मणों की निन्दा की है।

अब कोई ऐसी शंकाएं करें कि अस्तु जो हो, परन्तु बीभत्स कथायें तो भी उनमें हैं वा नहीं? अश्व को फेरते थे और सार्वभौम राजा लोग इसमें क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे?

इनमें हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अग्निर्वा अश्वः[3] । आज्यं मेधः ।।[4] (शतपथ ब्राह्मण)

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना—इतना ही अर्थ है। उसी तरह ग्रन्थ-

---

१. ऋ० ६।४७।११।।
२. शत० ब्रा० १३।२।६।७ में 'श्रीर्वै वृक्षस्याग्रम्' पाठ मिलता है।
३. शत० ३।६।२।५।।
४. द्र० तै० ब्रा० ३।६।१२।१—मेधो वा आज्यम्।

साहचर्य की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, शुनःशेफ[1] इत्यादि वार्ताओं का निर्वाह होता है।

अब केनोपनिषद् में एक यक्ष की वार्ता है। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख तृण डाला और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे। अग्नि से वह तिनका न जल सका। फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा ले जा। वायु से भी वह तिनका न उड़ सका, ऐसा कहकर जो हैमवती नामक ब्रह्मविद्या है, उसका माहात्म्य दर्शाया।

यज्ञ में मांस आदि खाना यह गपोड़ अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है।

कोई-कोई व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ही कोटियां निकालते हैं। कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सरायें नहीं हैं? हम नक़द रुपया दे बाजार में कोई माल मोल लेवें तो इसमें दोष क्या है? तो भाई सोचो कि ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं? कभी नहीं।

अस्तु, पुरुषमेध का अब थोड़ा सा विचार करें। यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव॥[2] (य० सं०)

होम तो देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का रखें तो कहो यह व्यवस्था कैसे ठीक है? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर बनावेगा, यह हमें तो निश्चय नहीं होता, अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कह सकते हैं।

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है और ऐसी निष्कारण हानि का बर्ताव भी नहीं है। देखो, गौ सदृश परोपकारी गरीब पशु को खाने के लिए वा यज्ञ के लिए मारने से कितनी हानि होती है। एक गाय चार सेर दूध देती है। इस दूध को औटाकर खीर (क्षीर) पकाने से न्यून-से-न्यून निदान चार मनुष्यों के लिए भी तो पौष्टिक अन्न होता है, अर्थात् प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है। यदि उस गाय ने दस महीने दूध दिया तो समझ लो कि चौबीस सौ (२४००) मनुष्यों का पालन उस गाय के एक बेत में होगा। इस प्रकार आठ औलाद औसत पकड़ें तो (१९२००) उन्नीस हजार दो सौ लोगों का पालन होगा। वही गाय कोई यदि मारकर खा जाय तो पच्चीस-तीस मनुष्यों का पालन एक टंक का होता है। इस प्रकार की युक्ति की रीति से भी मांस-भक्षण ठीक नहीं है।

अस्तु, इन दिनों मांसाहारियों ने राज्य-बल के आधार से इतना जबर हाथ

१. हरिश्चन्द्र शुनःशेप की कथा ऐ० ब्रा० (७।१३-१८) में मिलती है।

२. य० ३०।३॥

फेरना प्रारम्भ किया है कि चौपाये बिल्कुल न्यून होते जाते हैं। पांच रुपये के बैल के आजकल पच्चीस रुपये लगने लगे हैं और गरीब लोगों को दूध-घृत मिलने में बड़ी ही कठिनाई होती जाती है। जिस देश में बिल्कुल मांस नहीं खाते, उस देश में दूध घी की खूब ही बहुतायत हो रही है अर्थात् वहां पर खूब समृद्धि रहती है।

अस्तु, अब लों तो पशु-वध होम में न करने के लिए युक्तियों तथा शास्त्र का विचार किया। अब इस शंका का विचार करें कि कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं ?

होम दो प्रकार के हैं—एक राज-धर्म सम्बन्धी और दूसरा सामाजिक। इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया। अब राज-धर्म सम्बन्धी जो होम है उसकी सब ही व्यवस्था भिन्न है। उसमें पशु मारने की तो क्या ही बात है; परन्तु कभी-कभी मनुष्यों को भी मारना पड़ता है। युद्ध प्रसङ्ग में हजारों मनुष्यों का प्राण लेना, यह राज-धर्म विहित है। भयंकर श्वापदादि जो खेती को उजाड़ते हैं या मनुष्यादि को हानि पहुँचाते हैं, उनको मारना ठीक ही हैं; क्योंकि जङ्गली पशुओं का विध्वंस करना अति आवश्यक है, परन्तु सब ही होमों में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है। किसी प्राणी को पीड़ा देना, कहो यह धर्म-विहित कैसे होगा और इतने पर भी बेचारों को मुंह बांधकर घूंसे मार-मार कर उनका जीव लेना तो ईश्वर-प्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ऐसी कोई शंका करें तो जानना चाहिए कि कर्म-काण्ड में जिनकी प्रवृत्ति है, उन्हीं को केवल अधिकार है। कर्म से विचार-शक्ति थोड़ी-थोड़ी जागृत होती है। उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है। फिर ज्ञान में विचार-दृढ़ता और पक्वता आकर फिर वह ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है।

अब हम होम के विषय में छोटी-छोटी शंकाओं का विचार करते हैं—

कोई-कोई कहते हैं कि जब राज-नियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है, तो फिर होम किस लिए करें ? उनके प्रति यह उत्तर है कि हमारे घर स्वच्छ बनाये विना ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा और ग्राम के बाहर की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी ?

दूसरी शंका यह करते हैं कि जब आग गाड़ी में (रेल के इञ्जन में) और रसोई के घर में धुआं (धूम्र) बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि भी बहुत होनी ही चाहिए, तो फिर होम किस वास्ते करना चाहिए ?

इस पर हमारा यह कहना है कि यह धूम्र दुर्गन्ध और दूषित रहता है, इससे वायु शुद्ध नहीं होती।

इन दिनों होम के न्यून होने से बारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा बिलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं।

अब तक यज्ञ का विचार हुआ, अब थोड़ा संस्कारों का भी विचार करें।

दूसरा भाग—संस्कार

संस्कार किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का प्रथम विचार करना चाहिए।

किसी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना, इसका नाम संस्कार है। इस प्रकार स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों पर होवे, एतदर्थ आर्य लोगों ने सोलह संस्कारों की योजना की है, परन्तु उन प्राचीन आर्यों को इससे यह इच्छा न थी कि संस्कारों के कारण पेटार्थू पण्डा-पांडे हमारा माल उड़ावें और आलसी बनें, क्योंकि वे आचार्य आर्य महाजन (श्रेष्ठ-जन) थे, तो फिर वे अनार्य अर्थात् अनाड़ियों की समझ में क्योंकर मदद देते।

१. निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।

> निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
> सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।[1] (मनु०)

ऐसा मनु में वाक्य है। पिता ही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहिए। पुत्रेष्टि का वर्णन छान्दोग्य[2] उपनिषद् में किया है। उस स्थल पर गर्भ-धारण करने वाली स्त्रियों को क्या-क्या पदार्थ खाने चाहिए, जिससे पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है, यह मुख्यकर विचार किया है। प्राचीनकाल के आर्य लोग अमोघ-वीर्य थे और स्त्रियों में भी पूर्ण वय होने के कारण वीर्याकर्षता रहती थी। पुत्रेष्टि यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२. पुंसवन—इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः किस प्रकार जमावे इस योजना के सम्बन्ध से है। वीर्य में सदा स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य गुण रहने चाहिए, अन्यथा विकृत वीर्य से संतति में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। एतदर्थ सूत्र-कारों ने औषधियां बतलाई हैं। वीर्यवृद्ध्यर्थ और शान्त्यर्थ वर्ष भर (साल भर तक) पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए, ऐसा भी निर्बन्ध कहा हुआ है।

---

१. मनु० २।१४२।।

२. बृह० उप० अ० ६, ब्रा० ३, ४ में गर्भाधान का विस्तार से वर्णन मिलता है।

३. सीमन्तोन्नयन—स्त्रियों का अकाल में गर्भपात होने की बड़ी भीति रहती है, सो वह न हो और निरोगी पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन के उत्साह रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे, एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४. जातकर्म—इस संस्कार के विषय में विशेष होम करना है। कारण यह कि सूतिका गृह का (जच्चा के घर का) अमंगलपना दूर करने के लिए सुगन्धिवर्धक होम करना योग्य है। बच्चे को नाभि काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे, इस प्रकार का इस संस्कार का उद्देश्य है।

५. नामकरण—नाम रखने में भी कोई भूल न करे, यहां तक तो प्राचीन आर्य लोगों की बारीक दृष्टि थी। नाम का सुख से उच्चारण हो, उसमें मधुरता रहे, इसलिए दो अक्षर वाला या चार अक्षर वाला नाम होवे ऐसा कहा है, यों ही व्यर्थ लम्बा-चौड़ा नाम न होवे। नहीं तो कभी-कभी इन दिनों लोग मथुरादास, गोपवृन्द, सेवकदास ऐसे लम्बे-चौड़े नाम रखकर गड़बड़ मचाते हैं, कभी-कभी कौड़ीमल, भिकारीमल, धोंड्या, पथर्या आदि विलक्षण नाम रखते हैं। इन दिनों सब प्रकार का पागलपना फैल रहा है, फिर नाम रखने में दोष हो तो आश्चर्य क्या है? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं। स्त्रियों के नामों में भी मधुरता होनी चाहिए जैसे भामा, अनसूया, सीता, लोपमुद्रा, यशोदा, सुखदा ऐसे-ऐसे प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

६. निष्क्रमण—कोमल शरीर के बच्चों को बाहर हवा खाने के लिए ले जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

७. अन्नप्राशन—योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करे तो बड़ा ही दुःख होता है। इसलिए इस संस्कार की योजना है।

८. चूडाकर्म—मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण जो मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिए इस संस्कार की योजना की है।

९. व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत)—पुरुषों को विद्यारम्भ के समय उत्साह हो, इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं अर्थात् बनाए हैं। स्त्रियों को भी विद्या-सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे। विद्वान् अर्थात् ब्राह्मण लोग आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास का (रुई का) यज्ञोपवीत विशेष चिह्न ज्ञान-धारण करने को देते थे। इसके धारण करने में बड़ी ही जवाबदारी रहती थी। क्षत्रिय वैश्यादिकों के बालकों को कार्पास का तो नहीं; किन्तु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिए देते थे। यदि ठीक-ठीक विद्यासम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण के ही कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी।

उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्यासम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे। इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रखी थी। इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्यासम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहा था। विद्या के अधिकारानुसार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे।

१०-११ तदनन्तर दसवां वेदारम्भ और ग्यारहवां वेदाध्ययन-समाप्ति अर्थात् समावर्त्तन ऐसे दो संस्कार हैं।

१२. विवाह—इस संस्कार का आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे, उस समय विचार करेंगे। इन दिनों मुहूर्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रखा है वह केवल बलात्कार (जबरदस्ती) है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्त्ता हो, इसलिए कालनियम में ध्यान अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ में व्यर्थ टांय-टांय करना अनुचित है। इसी प्रकार पहले आर्य लोग स्वयंवर करते थे। एक नाड़ी आई, और मनुष्यगण आ घुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढ़ी हुई इत्यादि गपोड़े उन दिनों में नहीं थे।

१३. गार्हपत्य—गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ करने पड़ते हैं इसका विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।

१४. वानप्रस्थ—पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करने वाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे, ऐसी योजना थी। वानप्रस्थाश्रम में धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होता रहता था, क्योंकि विचार के लिए समय मिले और गुण-दोष का निर्णय करने में आवे, इसलिए वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५. संन्यास—धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह आश्रम है।

१६. अन्त्येष्टि—आश्वलायन सूत्र में इस संस्कार का वर्णन किया है। आजकल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं। कोई तो जलाते हैं वा कोई जंगल में डाल आते हैं और तीसरे जल समाधि देते हैं।

प्राचीन आर्य लोगों में अन्त्येष्टि यज्ञ है। उसमें दहन प्रकार मुख्य है। अब मुर्दे को गाड़ने वाले ऐसी शंका करें कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है, परन्तु मुसलमान आदिकों को विचार करना चाहिए कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई-कोई ऐसी शंका करेगा कि जल में देह डालने मच्छियां उसे खाती हैं, तो क्या यह परोपकार नहीं है; परन्तु जल बिगड़ता है इसका भी तो विचार करना

चाहिए। गंगा सदृश महान् नदियों में प्रेतों [की अस्थि-भस्म आदि] को डालने से जल में विकार उत्पन्न होता है, तो फिर छोटी-मोटी नदियों की तो कथा ही क्या है। अब गंगा में हड्डियां ले जाकर बहुत से लोग डालते हैं, तो बतलाओ यह कितना भारी भोलापन है ? मरे हुए प्राणी की देह मृत्तिका है। उसे गङ्गा में डालने से क्या लाभ होगा ? वन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न होकर रोग उत्पन्न होता है, इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इससे प्राचीन आर्य लोगों ने दहन-विधि ही को मुख्य माना था और ठीक यही है। वे श्मशानभूमि में एक वेदी बनाया करते थे और उसे पक्की ईंटों से बांधते थे और फिर उसमें मृत देह को जलाते समय बीस सेर घृत डालकर चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ भी डालते थे। शुक्ल यजुर्वेद ३९ वें अध्याय में इसका वर्णन किया है।

आजकल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता, नाम-मात्र होता है। अलबत्ता कट्टहाओं की चैन उड़ती है, सो यह जबरदस्ती। सबों को उचित है कि फिर संस्कारों के विषय का सुधार, करें जिससे कल्याण हो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



आठवाँ उपदेश

इतिहास-विषयक

[शनिवार ता० २४ जुलाई १८७५*। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुकूल बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २४ माह जुलाई के दिन रात्रि के आठ बजे इतिहास विषय पर व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

ओम् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः[1] ॥ (य० सं०)

'इतिहास'—यह आज के व्याख्यान का विषय है—

क्रम से यह व्याख्यान होना चाहिए। इतिहास अर्थात् "इतिहासो नाम वृत्तम्" इतिवृत्त अर्थात् अतीतवर्णन को इतिहास कहते हैं। इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है। जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो ऐक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है। जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया?

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥[2] (ऋ० सं०)

मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था। उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति, इसका वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है। उस शास्त्र में सत्त्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है, ऐसा माना है। सांख्यसूत्र देखो?

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।[3]

प्रकृति से आगे उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में सांख्यशास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है—

प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।[4] (सांख्यदर्शन)

मूल में प्रकृति नहीं थी, तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ, इस विषय में यदि कोई संशय करे तो उसके लिए एक दृष्टान्त है—

भूमि पर ओस पड़कर घास और वृक्ष की पत्तियों पर उसके बिन्दु बन जाते

---

*श्रावण कृष्ण ६ वि. सं. १९३२ (दाक्षिणात्य मत में—आषाढ़ कृष्ण ६)

१. यजु० ३६।२२॥
२. ऋ० १०।१२९।१॥
३. सांख्य १।६१॥
४. सांख्य १।६१॥

हैं, इससे यह ओस पृथ्वी का आवरण नहीं होता। इसी तरह पहले किसी प्रकार का भी आवरण नहीं था।

ईश्वर की इच्छा होकर उसने सृष्टि उत्पन्न की, ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं और उसमें निम्न-वचन का प्रमाण देते हैं—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति[1]। (तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६)

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता। क्योंकि 'ईक्ष' शब्द का उपयोग किया है। इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन है; परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है। ईश्वर को इच्छा हुई, यह बात सम्भव नहीं होती। इच्छा होने के लिए किसी भी वार्त्ता की अप्राप्ति होनी चाहिए, सो ईश्वर को सृष्टि में कौन-सी वस्तु अप्राप्त है? अर्थात् कोई भी अप्राप्त नहीं। फिर इच्छा करने वाले को देश, काल, वस्तु परिच्छेद होते हैं, यह बात भी ईश्वर में नहीं सम्भव होती। इसलिए ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहना अयोग्य है।

मूल में प्रकृति हुई और प्रकृति से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥[2]

(ऋ० सं०)

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥ (तै० आ० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १)

आकाश विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है और उससे भी विभु और अति सूक्ष्म परमात्मा है। आकाश को ईश्वर ने उत्पन्न किया।

आकाशस्तल्लिङ्गात्।[3] (व्याससूत्रम्)

ओं खं ब्रह्म।[4] (य० सं०)

आकाश और परमात्मा का आधाराधेय सम्बन्ध है। अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति [होती है] उसी को आकाश कहना चाहिए।

अब कोई ऐसी शङ्का करे कि ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन था?

---

१. छा० उप० ६।२।३॥ २. ऋ० १०।१९०।१-३॥

३. वेदान्त० १।१।२२॥ ४. यजु० ४०।१७॥

इस शङ्का का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का सच्चा अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। जिस प्रकार की इच्छा जगत् में दिखाई देती है, उस प्रकार की इच्छा ईश्वर में सम्भव नहीं होती, इसलिए—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥[1] (गौतमसूत्रम्)

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता। क्षुधानिवृत्ति के लिए पाक-सिद्धि करनी पड़ती है। इसमें क्षुधा-निवृत्ति यही प्रयोजन है। अब ईश्वर से कोई भी पदार्थ बड़ा नहीं है और न ईश्वर को प्रवृत्त करने वाला ही कोई पदार्थ है। इसलिए ईश्वर के काम में उपर्युक्त अर्थ वाला प्रयोजन नहीं सम्भव होता। दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शंका करे, उस शंका करने वाले से हम यह पूछते हैं कि भाई! सृष्टि न उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन नहीं कहते बनता, तो हम भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं कहते, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई। परन्तु ऐसा नहीं है। सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे, ईश्वर की शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् यदि उसने जगत् उत्पन्न न किया तो फिर ईश्वर के बीच वह शक्ति रहने पर उसका क्या उपयोग वा लाभ है? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्त्व निष्फल होगा। सर्वशक्ति इस शब्द में रचना, धारणा, दया इत्यादि गुणों का समावेश होता है, इसलिए सृष्टि उत्पत्ति विषय में शक्तिसाफल्य होना यही प्रयोजन है।

कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् लीला से उत्पन्न किया। उसमें जगदुत्पत्ति का प्रयोजन लीला है. परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेनेवाला होगा, तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की भी सम्भावना होगी। इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति का कारण ईश्वर-लीला है, ऐसा जो लोग कहते हैं वह कहना त्याज्य है।

कोई-कोई ऐसी भी शंका करते हैं कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ या वृक्ष पैदा हुआ? सो इसका उत्तर सुनो—

यदि ऐसा कहें कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ तो वृक्ष के विना बीज कहाँ से आ पड़ा? इस प्रकार का झगड़ा आ पड़ता है, भला—प्रथम वृक्ष उत्पन्न हुआ ऐसा कहें तो भी बीज के विना वृक्ष कैसा हुआ? इस प्रकार "उभयतः पाशा रज्जुः" प्रसंग न आवे, इसलिए हम ऐसा कहते हैं कि प्रथम बीज ही आया, क्योंकि सब जगत् का बीज ईश्वर ही है। वहां से सब उत्पन्न हुए। अस्तु, पतिव्रता का एक बड़ा हास्यजनक दृष्टान्त है। अपने उपास्य देवता के पास किसी पतिव्रता ने यह वरदान मांगा कि मेरा जो पति अभी है वही अगले जन्म में फिर मेरा पति होवे, तब उस

---

१. न्याय० १।१।२४॥

देवता ने उसको वैसा ही वर दिया। फिर आगे वह पति मुक्त हो गया अर्थात् जन्म-मरण से छूट गया, तो बताओ अब ऐसे प्रसङ्ग में देवता के वरदान की सफलता कैसे होनी चाहिए ? इस प्रकार की शंका कर नाना प्रकार के तर्क लोग करते हैं। उनके प्रति इतना ही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा प संत्सङ्ग से उसकी पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी। फिर देवता आदि के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा। सारांश ऐसे उलटे-सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्त रीति से विचार करना, यह हमारा धर्म है। अस्तु

अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई। साठ परमाणु का एक अणुक होता है, दो अणुक का एक द्व्यणुक होता है। तीन द्व्यणुक का एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है—

जालान्तर्गतो भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ मनुः।[1]

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई। आगे प्रलय काल में त्रसरेणु का द्व्यणुक होता है। द्व्यणुक के अणु होते हैं अणु के और परमाणु होते हैं। यह प्रलय-व्यवस्था है।

अब ईश्वर सामर्थ्य ही प्रकृति है, उत्पत्ति की सामग्री है और यही जगत् का उपादान कारण है। यह [सामर्थ्य] ईश्वर के साथ सनातन सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व से है।

यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और ईश्वर में इसका लय होने से प्रलय होता है। अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ। वायु तक भी प्रलय नहीं हुआ। जल प्रलय हुए हैं। अग्नि तक प्रलय हुआ है।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्।
तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत्॥ (ऐतरेय उप०)

पञ्च महाभूत अनन्त परमाणुओं का संचय होकर उत्पन्न हुए। उसी प्रकार उद्भिज-सृष्टि और जीव-सृष्टि के असंख्य बीज हैं। यह भी ईश्वर शक्ति है। उसी तरह एक जातीय विजातीय परमाणु हैं। एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है। औषधि से अन्न होता है, अन्न से रेत उत्पन्न होता है और रेत से शरीर उत्पन्न होता है। अब कोई ऐसी शंका करे कि रेत किसलिए चाहिए। सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो, उसमें क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि जीव-सृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है तो उसमें केवल अन्नग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेत-सिंचन की भी आवश्यकता होती है।

१. मनु० ८।१३३॥

तपसोऽध्यजायत ।[1]

धाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।[2] (ऋ० सं०)

'यथापूर्व' कहने से कल्प-कल्पान्तर में सृष्टिभेद है ऐसा कहना बिल्कुल अयोग्य है और 'यथापूर्व' शब्द से जैसा उसके ज्ञान में था, वैसा ही उसने यह विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता: साध्या मनुष्या: पशवो वयांसि ।।

अर्थात् उसके अनेक सामर्थ्य के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई ।

ततो रात्र्यजायत ।[3]

इन सब बातों का विचार सत्यार्थप्रकाश और पञ्चमहायज्ञ आदि पुस्तकों में भलीभांति किया गया है ।

यदि ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया, ऐसा कहें तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उसने पुरानी भूलों को सुधारा है ? अथवा जो उसे [पूर्वं] विदित न थीं, क्या ऐसी बातों को उसमें डाला है ? कभी नहीं । इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान उत्पन्न होता है और अनवस्था प्रसंग भी आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आकर पूर्वानवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आता है ।

सत्रों के पश्चात् मनुष्य प्राणी उत्पन्न किया गया, वे मनुष्य बहुत से थे । अन्यान्य मतों में तो दो ही मनुष्य [उत्पन्न किये] थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है । इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास हो चुका ।

अब मनुष्य-सृष्टि होने पर मनुष्य-जाति का इतिहास प्रारम्भ करना चाहिए ।

अनेक देशों के अनेक लोगों में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थकार हो चुके हैं । उन सब ग्रन्थकारों का प्राचीन होने के कारण हमें मान्य करने के लिए कहना कितनी अयोग्य बात है । हमें सत्यासत्य निर्णय करना आता है ।

कहीं ठग लोगों की पुस्तकों में यह कहा हो कि मनुष्यों को मारकर चोरी करना चाहिए, तो क्या वह ग्रन्थ प्राचीन है इसलिए उसकी सब बातें मानना चाहिए ? कभी नहीं । व्यर्थ ही पुरानी पुस्तकों का नाम रखकर दाम्भिक मत का माहात्म्य बढ़ाने जैसे उद्योग को क्या कहना चाहिए ?

---

१. ऋ० १०।१९०।१ ।।
२. ऋ० १०।१९०।३ ।।
३. ऋ० १०।१९०।१ ।।

अब "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे[१]" इस न्याय के अनुकूल अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपने ही देश का इतिहास कहना योग्य है।

प्रथम मनुष्य-जाति हिमालय के किसी प्रान्त में उत्पन्न हुई—ऐसा मानने से प्राचीन आर्य-ग्रन्थों की परदेशस्थ लोगों के ग्रन्थों के मतों के साथ एकवाक्यता होती है और प्राचीन आर्य लोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥[२]

इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो।

अब भिन्न-भिन्न भाषायें कैसे उत्पन्न हुईं, इसका विचार करना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यहूदी लोगों में एक ऐसी कहानी है कि उनके पूर्वज स्वर्ग इतना ऊँचा एक बुर्ज बना रहे थे। इससे ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उनकी बोली में गड़बड़ मचा दी।[३] बस इसी से जगत् में अनेक भाषायें उत्पन्न हुईं, सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है।

देश, काल, भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूलभाषा से व्यवहार में भेद बढ़कर भिन्न-भिन्न भाषायें उत्पन्न हुईं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो [वै] वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०।[४]

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु है। उसका पुत्र विराट् और उससे परम्परा से स्वायम्भुव मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ, यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है।

मनुष्य-सृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जाति ही थी पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुए।

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो०।[५] (ऋग्वेदसंहिता)

अर्थात् ऊपर कहे हुए आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट। फिर आर्यों में गुणकर्मानुसार चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान ही समझना चाहिए।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्यापनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषि कर्म

---

१. पारिभाषिक ४३।
२. मनु० १।२१॥
३. बाइबल उत्पत्ति की पुस्तक अ० ११।
४. श्वेता० उप० ६।१८॥
५. ऋ० १।५१।८॥

व्यापारादि, शूद्रों का सेवादि कर्म है, उसी तरह राजधर्म युद्धधर्म ये क्षत्रियों के मुख्य धर्म हैं। इस प्रकार चार वर्ण हुए। इसके आगे चार आश्रम हुए। इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसंग में हो चुका है।

अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है इसका विचार करना चाहिए। जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वाले को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानव-धर्मशास्त्र की अवस्था हुई है। उसमें बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं। यदि कोई कहे कि यह कैसे ? तो इसका प्रमाण यह है कि एकदर इन श्लोकों को मनुस्मृति की पद्धति से मिलाकर देखने से वे श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं। मनु सदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रन्थ में अपने स्वार्थसाधन के लिए चाहे जैसे वचनों को डालना बिलकुल नीचता दिखलाना है। अनुभूति स्वामी नाम का कोई महान् पण्डित था। उसके मुंह में से 'पुंसु' इस प्रयोग के स्थान में 'पुंक्षु' ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकला। अब उसी का उपपत्ति कर पण्डित लोग दिखाते हैं कि वह शुद्ध ही है। मूढ़ लोगों की रीति कुछ-कुछ कौवों के सदृश है। कौवे को किसी जानवर के व्रण झट दिखाई देते हैं; परन्तु उन्हीं जानवरों के अच्छे शुद्ध (व्रणरहित सुन्दर) भाग नहीं दीखते। अशुद्धियां झट दिखाई देने लगती हैं। हमारे पण्डित भाइयों का स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेणारम्भं कुर्याच्छेषं कोपेन पूरयेत्।

किसी ने "शास्त्र" शब्द का उपयोग किया तो झट प्रथम ही पूछने लग जाते हैं कि "शास्त्रस्य कोऽर्थः" ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछकर वितण्डावाद करने की उनको बड़ी ही हवस होती है, परन्तु वितण्डावादी को कोई वितण्डावादी ही मिले तो वह सहज ही प्रश्न करेगा कि "शकारस्य कोऽर्थः" "स्त्रकारस्य कोऽर्थः" और इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा इत्यादि। सो भाई वितण्डावाद छोड़करके शान्तवृत्ति धारण कर वाद करें, यह हमें योग्य है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है कि जो दौड़ेगा सो गिरेगा, इसमें कुछ दोष नहीं—

'धावतः स्खलनं न दोषाय भवति'

इस वचन के आधार से हमारे बोलने में कुछ प्रमाद अथवा अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उसका विषाद न मानना चाहिए। हम सर्वज्ञ नहीं, और सब बातें हमें उपस्थित भी नहीं। हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे। इसका हमें ज्ञान भी नहीं है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे। सत्य की छानबीन होनी चाहिए, वितण्डा नहीं होनी चाहिए, यही हमारी बुद्धि में आता है। थोड़ा-सा गुण पर भी ध्यान देना चाहिए और दोष को क्षमा करना चाहिए। शान्तता अर्थात् शम, दम, तप ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिनमें ये गुण हों निस्सन्देह वे ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका; अध्यापन, याजनादि कार्यों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ।।[1] (मनु०)

शम—अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दम—जितेन्द्रियत्व, तप विद्यानुष्ठान, दोनों प्रकार का शौच—शारीरिक और मानसिक शान्ति, सरलता अर्थात् अनाग्रह, ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं, तब उनमें गाम्भीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्राह्मणों में ब्राह्मण्य का बड़ा ही घमण्ड रहता है, सो ठीक ही है। किसी धनिक को दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता; परन्तु दरिद्री को दरिद्री कहने से बहुत क्रोध आता है। अपनी-अपनी अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुकूल मनुष्यों की बोलने की रीति होती है।

आजकल के साम्प्रदायिक साधु परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ लगाते हैं। उदाहरणार्थं जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

राम नाम लड्डुवा गोपाल नाम घी ।

क्षत्रिय साधु हो तो वह यह कहता है कि—

राम नाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया ।

यदि साधु जी कोई बनिये हुए, तो यों कहते हैं कि—

राम मेरा बानियां समज करे व्योपार ।

शूद्र साधु हो तो, वह यों कहने लग जाता है कि—

हरि को भजे सो हरि का होय, जात पांत पूछे ना कोय ।

अनार्य्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
[पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥
पित्र्यं वा लभते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।]
न कथंचिद् दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ [2](मनु०)

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म सब ग्रन्थों में ज्ञान-प्राप्ति करना ही कहा है। ज्ञान अर्थात् निर्णय, ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना, यही ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है, विज्ञान दृढ़ निश्चय को कहते हैं। अस्तु, ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहज ही में वैभव को प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है। मनु के प्रथम अध्याय को देखो, उसमे ब्राह्मणों के धर्म का वर्णन किया हुआ है।

अब क्षत्रियों का धर्म—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वरभाव (=स्वामित्व) अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा की ओर से यथार्थ अनुवर्त्तन

---

१. मनु० ३ । १०४ ॥ २. मनु० १० । ५९, ६० ॥

करवाना है। यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म अच्छे प्रकार होते हैं।

बनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या देना-लेना और खेती करना है।

इस प्रकार की मनुष्यों में गुण-कर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक पूर्णतया चलती रही।

मनु के दस पुत्र हुए—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥[1]

स्वायंभुव मनु का पुत्र मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई। अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा। कला-कौशल्य की व्यवस्था करने वाला विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ। विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली। फिर इस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे। ब्रह्मदेव का पुत्र विराट् उसका पुत्र विष्णु, सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था। ये ही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्मा के साथ त्रिमूर्ति में मुख्य देवता करके प्रसिद्ध हुए। मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु जहाँ चल रही है, रमणीय वनस्पतियां जहां उगी हैं और जहां पर स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बह रहा है, ऐसे हिमालय की उंची चोटी पर विष्णु वास करने लगा। उसी को वैकुण्ठ भी कहते थे। फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा, उसे कैलाश कहते थे। इसके आगे विष्णु और महादेव, ये कुलों के नाम पड़ गए। ऊपर लिखे हुए विष्णु और महादेव आज तिथि तक जीते हैं यहना ठीक नहीं, किन्तु अत्यन्त भोलापन है। इसमें दृष्टान्त इतना ही है कि मिथिला देश के जनकपुर के राजा को अभो तक जनक ही कहते हैं। इससे सीता जी का पिता जनक राजा अब तक जिन्दा है, यह कहना बिलकुल अप्रशस्त है। यही प्रकार ब्रह्माजी के विषय में भी लागू होता है। आर्यावर्त में लोकसंख्या बहुत हो गई, उसे न्यून करनी चाहिए, इसलिए आर्य लोग अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर विमान उड़ाते फिरते, जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा कि झट वहीं पर बस जाते। इस प्रकार सब जगत् के प्रत्येक देश में मनुष्य फैले।

इसी समय में राजा इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ लेकर इस भरत-

---

१. मनु० १।३५, ३६॥

खण्ड में प्रथम वसाहत की। आर्यावर्त देश कहने से पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्र अथवा दृषद्वती, उत्तर में हिमालय दक्षिण में विन्ध्याद्रि, इनके बीच का जो प्रदेश है उसी को आर्यावर्त कहते हैं।[1] यह आर्यावर्त कितना सुन्दर है, कितना सुपीक (जरखेज) है, और जलवायु भी यहां का कितना उत्कृष्ट है। इसमें छहों ऋतु क्रम से आते रहते हैं।

देव का अर्थ विद्वान् है। उन्हीं के कारण देवनदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई। इसलिए "देवनद्योर्यदन्तरम्"[2] ऐसा कहा है। प्रथम गंगा का नाम पद्मा था, फिर उस नदी की नहर भागीरथ ने निकाली, इसलिग उसका नाम भागीरथी पड़ा।

उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इनका नाम आर्य था, उसका सूत्र है कि—

"आर्यो ब्राह्मणकुमारयो:"[3] (पाणिनि-सूत्रम्)

ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम 'आर्यस्थान अथवा आर्य खण्ड' होना चाहिए, सो उसे छोड़ न जाने 'हिन्दुस्थान' यह नाम कहां से निकला? भाई श्रोतागण! 'हिन्दु' शब्द का अर्थ तो काला, काफिर, चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है तो भाई! इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो? और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिज्ञात इत्यादि और आवर्त्त कहने से ऐसों का देश, ऐसा अर्थ होता है। सो भाई ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते? क्यों तुम अपना मूल का नाम भूल गए? हाँ! हम लोगों की यह स्थिति देखकर किस के हृदय को क्लेश न होगा? सब ही का होगा अस्तु, सज्जन जन! आज से 'हिन्दु' नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त इन नामों का अभिमान धरो। गुणभ्रष्ट हम लोग हुए तो हुए, परन्तु नाम भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिए। ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

---

१. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ।। मनु० २।१७, २२ ।।

२. मनु० २।१७ ।।

३. अष्टाध्यायी ६।३।५८।।

नवम उपदेश

इतिहास-विषयक

[रविवार ता० २५ जुलाई १८७५*। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विज्ञापन के अनुसार बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में ता० २५ माह जुलाई के दिन रात्रि में आठ बजे व्याख्यान दिया, उसका सारांश]

'इक्ष्वाकु' यह आर्यावर्त का प्रथम राजा हुआ। इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है। पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझें, किन्तु एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जानें, पहला अधिकारी स्वायम्भुव [मनु] था। इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ-कुछ बन्द होने लगी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी ऐसा है, कारण देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ-संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया।

ब्रह्मा की उत्पत्ति तक दिव्य सृष्टि थी, पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई, उससे विराट् हुआ, और विराट् के पीछे मनु हुआ। मनु ने धर्म-व्यवस्था बनाई। मनु के दस पुत्र थे, उनमें स्वायम्भुव के समय में राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुई।

इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इससे नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था, अथवा उसने बलात्कार से राज्य उत्पन्न किया हो, किन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यतानुकूल राज-सभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया। उस समय सारे लोग वैदिक व्यवस्थानुकूल चलते थे। भृगुजी ने अपनी संहिता में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इससे श्लोक बनाने का आरम्भ वाल्मीकिजी ने किया, यह कहना कितना सयुक्तिक है, सो देखो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध से मनु के सातवें, आठवें वा नवें अध्यायों में जो राज्यों की व्यवस्था बतलाई है उसे देखो। केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुक्म चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष वा अधिकार चलाना रहता।

राज्य की व्यवस्था कैसी होती थी, उसे संक्षेप से इस स्थल पर कहता हूँ—ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर, ऐसे-ऐसे देश विभाग रहते थे। ग्रामों में सौ-सौ घर, महाग्रामों में हजार, नगर में दश हजार और पुर में इससे भी अधिक घरों की संख्या रहती थी। दश ग्राम पर एक दशेश नाम का अधिकारी होता था, सौ ग्रामों पर शतेश नाम का अधिकारी रहता था, और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था। दश सहस्रों पर महासुशील नीतिमान् ऐसा ही एक अधिकारी रहता था।

---

* श्रावण कृष्णा ७ सं० १९३२ वि. (दाक्षिणात्यमत में आषाढ़ कृष्णा ७)।

लिखने-पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में गुप्त दूत बातनियां (खबरें) पहुँचाने के लिए तथा अधिकारी लोग कैसा अधिकार चलाते हैं, इसका शोध रखने के लिए चारों ओर फिरते रहते थे, और यह दूतों का काम पुरुष या स्त्रियां करती थीं।

राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे—राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी और कोषाधिकारी। ऐसे चार महकमे के चार अधिकारी रहते थे। इक्ष्वाकु साजसभा का प्रथम अध्यक्ष था। यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते तो उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था। देश में भिन्न-भिन्न जाति [प्रकार] की सभायें थीं। उनमें राजार्य्य सभा ही मुख्य थी और धर्मसभायें अर्थात् परिषद् भी स्थल-स्थल पर थीं। दश विद्वान् विराजे बिना परिषद् सभा नहीं होती थी और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आये बिना तो सभा का काम चलता ही नहीं था। धर्म-सभा की ओर से किसी प्रकार का अधिकार न था, किन्तु उसमें धर्माधर्म का विवेचन और उपदेश ही होता था। परीक्षा और शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूनाधिक के विषय में राजार्य सभा को विदित करके राजार्य सभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी। महाभारतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न-भिन्न सभाओं का वर्णन किया हुआ है, उसे देखो। सेना के सिपाही लोगों को आज्ञा मानना ही मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, एसा बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे। आर्य लोगों को 'कवायद क्या है' यह विदित न था, ऐसा बहुत से अंग्रेजी पढ़े हुए लोग कहते हैं, परन्तु यह कहना पागलपने का है। क्योंकि मकरव्यूह, वकव्यूह, बलाकाव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि कवायद के नाना प्रकार प्राचीन काल में आर्य लोगों को विदित थे और सैन्य में भी भिन्न-भिन्न टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय के उनके हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि होते थे। अंग्रेज लोगों में अब तक व्यूह रचना का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है अर्थात् वे नहीं जानते कि व्यूह-रचना किसे कहते हैं। थोड़ी बहुत कवायद करते हैं, उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं, ऐसा तुम्हें प्रतीत होने लगा है। सारांश **'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'** यह कहावत सत्य है।

इससे अंग्रेजों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं हैं, ऐसा मेरा कहना नहीं है; किन्तु उनमें भी बहुत से अच्छे गुण हैं सो उनके गुणों को हम स्वीकार करें यही हमें योग्य है। पहले समय में जो कोई युद्ध में मरता तो उसके लड़के-वालों को वेतन मिला करता था और युद्धप्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट दिया करते थे। सैन्य की योग्य व्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्यों की ओर ध्यान दिया करते और समस्त ऐश्वर्य की मूल कारण सेना है यह जानकर सेना में लोगों को कोई प्रकार की चिन्ता वा कष्ट नहीं होने देते थे, इस विषय में अधिकारी लोग उस समय बहुत ही दक्ष होते थे। यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी अर्थात् उत्तम रक्षा होती थी।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ।।[1]

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा शतपट (सौगुना) दण्ड अधिक दिया जाता और राजा लोग मुनि लोगों के साथ धर्मवाद करने में समय लगाते थे, इस विषय में पिप्पलाद मुनि की कथा देखो[2]। इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्य-व्यवस्था थी। इक्ष्वाकु राजा इस प्रकार का सुशील, नीतिमान्, सुज्ञ, जितेन्द्रिय विद्वान् और गुणसम्पन्न राजा था।

बहुत सी पीढ़ियों के पश्चात् सगर राजा राज्य करने लगा। उस समय राजा लोग यदि मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते थे अथवा अधिकार ही न देते थे।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चण्डाल-चौकड़ी ने घेरा है। इस कारण सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है? बस सारांश इतना ही है कि यह हमारे आर्यावर्त्त का दुर्दैव है।

बहवः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।।[3] (महाभारते)

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था। इस राजा का मूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंजस नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया। इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन किया और उसे एक महाभयंकर जंगल के बीच कैद कर रखा, इसी का नाम न्याय है। नहीं तो आजकल के राजा लोग और उनके न्याय का क्या पूछना है, कहते हैं कि—

समरथ को नहीं दोष गुसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ।।[4]

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया। प्यारे आर्यगण! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है। क्योंकि उसे समझ देखकर समर्थ किया है। वह भला बुरा पाप-पुण्य सब जान सकता है। तात्पर्य है कि ऐसे-ऐसे गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजों की धर्म शिक्षानुकूल बर्त्ताव रखें, इसी में कल्याण है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

---

१. मनु० ८। ३६६।।
२. यह कथा प्रश्नोपनिषद् में है।
३. महाभारत उद्योगपर्व ३७। १५।
४. तुलसीदास की रामायण का यह वचन है।

दशम-उपदेश

इतिहास-विषयक

गत व्याख्यान में कहे हुए सगर राजा के समय जिस दुष्ट राजपुत्र को दण्ड मिला था, उसको राज्य का अधिकार न मिला। इसी सगर राजा के सम्बन्ध में बहुत सी अलाउद्दीन की तरह कहानियां मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं, परन्तु इस प्रकार की अनुचित कहानियों पर कौन विश्वास कर सकता है कि एक ही समय में राजा सगर के साठ हजार पुत्र पैदा हुए, और उन्होंने समुद्र को खोद डाला। इनके हाथ बड़े-बड़े थे और शरीर भी अतिपुष्ट थे।' कोई-कोई मनुष्य इस बात की उपपत्ति इस रीति पर करते हैं कि यह सब वरदान का प्रभाव था। वरदान अर्थात् आशीर्वाद में केवल वाणी से शब्द बोले जाते हैं परन्तु केवल शब्द में तो कर्त्तव्य शक्ति नहीं है। जैसे 'अग्नि' बोलने से जलन या दीप्ति पैदा नहीं होती। शब्द में केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अतः यह सब मिथ्या बड़बड़ाहट है। इसमें मूल्य और समय खोना अतीव निर्बुद्धिता है।

इस सगर के अनन्तर उपरिचर [नाम का) राजा हुआ वह गुब्बारह की विद्या में निपुण था। कौषीतकीय ब्राह्मण ग्रन्थ में बहुत सम्राट् राजा का वर्णन किया है।

अयोध्या में ऋतुपर्ण नामी राजा राज्य करता था। इधर दक्षिण में राजा नल राज्य करता था, नल की रानी दमयन्ती का अपने पति से वियोग हो गया उस समय का वर्णन किया गया है कि उसने अपने ही स्वयंवर के विषय में दो श्लोक स्वयं बनाये थे [और उसने अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के पास भेजे थे]। राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्नि-विद्या विदित थी।

अग्निर्वै अश्वः। देवा एतं वज्रं ददृशुः। अग्निर्वै वज्रः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याऽभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत। तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यादश्वमानेतवै ब्रूयात् स पूर्वेणोपतिष्ठते। वज्रमेवैतदुच्छ्रयति। (शतपथ)[1]

अग्नि का नाम ही अश्व है विद्वानों ने इस वज्र को दिखाया। वज्र नाम है अग्नि का; जो अग्नि है इसको आगे से दिखाया गया है। इस जगह जहां कि अग्नि का भय नहीं है अर्थात् जहां कि हवा न हो, अग्नि प्रसिद्ध हुआ है। इस कारण से जहाँ अग्नि का मन्थन होता है अर्थात् अग्नि की अनेक प्रकार की सुन्दरता होती है वहाँ अग्नि का बल निश्चय कहा जाता है कि सम्पूर्ण संसार इसी के बल से स्थित है। यह वज्र अर्थात् अग्नि है। इस संसार को उन्नति देती है।

उस समय राजा नल अयोध्या पुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ नौकर था। वहां

---

१. शतपथ २।१।४।६॥

से दमयन्ती के स्वयंवर में नल की विद्या-शक्ति से एक ही दिन में राजा ऋतुपर्ण विदर्भ पहुँच गया था; इस कारण से नल की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इसके साथ दुर्बल श्याम-कर्ण घोड़ों की मनुष्य ऊटपटांग बातें करते हैं। इनमें कुछ भी सच्चाई नहीं है।

इसके अनन्तर भरत-कुल में अनेक राजा होते रहे। इसी कारण पर उस समय से आर्यावर्त्त का नाम भारतवर्ष भी हो गया। तदन्तर राजा रघु हुआ, वह भी बड़ा महात्मा था। राम राजा से रघु राजा बड़ा था। रघु पीछे राजा राम हुए। इनका रावण से युद्ध हुआ। इनका इतिहास रामायण में वर्णन किया गया है। ऐसे-ऐसे वीर पराक्रमी, बुद्धिमान्, विद्वान्, वैद्य और न्यायकारी राजा लोग आर्यावर्त्त में हुए हैं। उस समय आर्यावर्त में प्रत्येक स्थान पर बड़ी भारी उन्नति थी। कौषीतकीय ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र वा पुत्रियां पाँच वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक समाजिक नियम था। परन्तु माता-पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राज-सभा से उनको दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय व्यतीत होते हुए राजा शन्तनु का समय आ पहुँचा। इस समय आर्यावर्त्त का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया था। इस ऐश्वर्य के नशे के कारण सहज ही इस आर्यावर्त्त की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई। जिसके पास द्रव्य बहुत था वह नशे में मस्त था। इस कारण से एकाएक देश में सामाजिक नियमों में विरुद्धता उत्पन्न हो गई।

राजा शन्तनु को ऐश्वर्य का बड़ा भारी अभिमान उत्पन्न हुआ और देश में व्यभिचार बढ़ गया। निष्कण्टक राज्य होने के कारण से शन्तनु और भी विशेष अभि-मानसंयुक्त हुआ। मनु जी ने कहा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥[1]

जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।

इसके अनन्तर शन्तनु विषयों में अत्यन्त आसक्त हो गया। सत्यवती के प्रति इसकी चालाकी का समाचार आप सब लोग जानते हैं; परन्तु शन्तनु राजा होकर भी सत्यवती के पिता पर बल प्रयोग न कर सका। सत्यवती के पिता ने उसको डांटा था। जब तक भीष्म ने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को देने का निश्चय नहीं किया, तब तक सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा की आज्ञा स्वीकार नहीं की। भीष्म पितामह के इस निश्चय पर कि इसने अपना कुल हक सत्यवती के पुत्रों को दे दिया, सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा का कहना स्वीकार किया। इससे ही प्रकट हो सकता है कि प्राचीन आर्य मनुष्यों में कितनी स्वाधीनता थी और राजा लोग भी सामाजिक प्रबन्ध में किस प्रकार प्रबन्धकर्त्ता हुए थे। इस आर्यावर्त्त के राजाओं की नेकी वा नेकमानी संसार में फैल रही थी। योरुप और अमेरिका के कुछ राजा लोग

१. मनु० २। १३॥

इनकी सेवकाई में तत्पर होकर कर देते थे। अब सोचिए कि वर्त्तमान समय में देश की दशा कितनी गिर गई है। ये सब बातें महाभारत के राजसूय और अश्वमेध पर्वों में वर्णित हैं। निदान शन्तनु राजा के समय में पाप बढ़ने लगा और राज्य का प्रबन्ध बिगड़ चला। यह ही पाप अन्त में बढ़ते-बढ़ते कौरवों व पाण्डवों के बड़े भारी संग्राम पर समाप्त हुआ और उसी समय से इस देश की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई। अब इस जगह राजा लोगों का इतिहास समाप्त किया जाता है।

अब आगे देवता, विद्या और ऋषि आदि के इतिहास का प्रारम्भ करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि देवता विद्वानों को कहते हैं।[1] इन विद्वानों के तीन प्रकार थे—प्रथम देव, द्वितीय ऋषि, तृतीय पितृ। इन तीन प्रकार से पृथक् ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तेंतीस देवता वर्णन किए गए हैं[2] और तेंतीस करोड़ का मानना जो नवीन पुरुषों ने किया है वह बहुत अनुचित है; क्योंकि कोटि का अर्थ 'प्रकार' है और इनका पुस्तक रचियता लोगों ने 'करोड़' का अर्थ करके ऐसी गल्ती खाई है। आदित्य रुद्र, वसु आदि इस तरह के तेंतीस देवता शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में वर्णन किए गए हैं। वहां देखलेना चाहिए. इन तेंतीस देवताओं में, बारह आदित्य अर्थात् महीने, ग्यारह रुद्र अर्थात् १० प्राण और एक जीवात्मा। रुद्र शब्द का अर्थ है कि इस शरीर में से प्राणों के निकल जाने पर लोग रोया करते हैं। इसलिए प्राणों को रुद्र कहते हैं। इसलिए दश प्राण और जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र समझने चाहियें; क्योंकि इनके शरीर से अलग होने पर ही सम्बन्धी रोते हैं। आठ वसु, जो निम्न रीति पर वर्णित हैं—१. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. द्यौ, ७. चन्द्रमा, ८. सूर्य ये सब मिलकर आठ वसु हुए। बत्तीसवें प्रजापति, तेंतीसवें इन्द्र।

विष्णु वैकुण्ठ में रहने वाले थे और वही उनकी राजधानी का नगर था। महादेव कैलाश के रहने वाले थे। कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सब ओर घूमे हुए हैं। जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी मैं इह विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर बर्फ में गलाकर संसार के धंधों से निवृत्त हो जाऊं, परन्तु वहां पहुंचकर विचार में आया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना ही पुरुषार्थ है। इस विश्वास के बदलने पर लौट आया था। अब तो विदित होता है कि जीवात्मा की मृत्यु ही नहीं होती है।

काश्मीर से लेकर नैपाल तक हिमालय की जो ऊंची-ऊंची चोटियां हैं वहां देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं। गत समय में इस समय की तरह प्रायः बर्फ

---

१. विद्वांसो हि देवाः। शत० ३।७।३।१०॥

२. शत० १४।६।९।३॥

३. शत० ब्रा० १४।६।९।३॥ शतपथ का यह अंश बृहदारण्यक उपनिषद् कहाता है।

नहीं पड़ती थी, ऐसा विचार होता है क्योंकि यदि उस समय भी वहां बर्फ पड़ती होती तो देव अर्थात् विद्वानों का इस स्थान पर निवास कैसे होता ? इस देव लोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस समय भी भरतखण्ड में हमारे कथन का प्रमाण मिलता है। देहली में इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान था। वहां इन्द्र का राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त्त में ब्रह्मा ने राज्य किया। काशी, उज्जैन और हरिद्वार आदि में महादेवजी का राज्य था। इन विद्वानों अर्थात् आर्यों के बैरी अनार्य भील आदि थे। इनके साथ बराबर आर्यों को युद्ध करना पड़ता था। विमानों में बैठकर भी युद्ध करते थे। केवल यही नहीं; किन्तु जहाँ कहीं स्वयंवर रचा गया और बुलाया गया कि उन्हीं विमानों पर चढ़कर शीघ्र ही उस स्थान पर पहुंच जाते थे। इन देवताओं में बड़े देवता लोग अत्यन्त वीर थे। इनकी स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों के साथ युद्ध में जाया करती थीं। इन पहाड़ के रहने वाले देवताओं के राज्य के व्यवहार आज तक के राजपूत लोगों से अब तक मिलते हैं। प्राचीन समय के राजा लोग युद्ध के समय रथों में बैठे भोजन किया करते थे। इस समय राजपूतों में ठाकुर लोग अवसर आने पर ऐसा ही करते हैं। राजपूत लोग जिस स्थान पर जी चाहे खाते हैं। इसी सम्बन्ध में मैं एक रिवायत सुनाता हूं जो कि शहर जयपुर में कुछ समय पहले से प्रसिद्ध है। जयपुर के राजा लोग ब्राह्मण को रसोईदार बनाकर नहीं रखते। इसका कारण इस रीति से वर्णन करते हैं कि तीन चार पुश्तों से पहले रसोई का काम ब्राह्मण नहीं करते थे। ब्राह्मण वा क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के घर में शूद्र रसोईदार रहते थे और यह आचार मनुस्मृति में भी मिलता है। वर्त्तमान में यही राजपूतों के रसोईदार हैं। ब्राह्मणों को रसोई के काम के लिए न रखने का कारण यहां वर्णन करते हैं कि गत समय में एक बार ब्राह्मण ने राजा के भोजन में विष डाल दिया था।

प्राचीन समय में जिसको त्रिविष्टप देश कहते थे उसको वर्त्तमान में मुल्क तिब्बत कहते हैं। कोई-कोई हमसे प्रश्न करते हैं कि विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि देवता आजकल हमें क्यों दिखाई नहीं देते। उनके लिए हमारा उत्तर यह है कि नेक और पराक्रमी विद्वान् जो थे, वे सब-के-सब मर गए। कोई-कोई पूछते हैं कि हिमालय में राज्य करने वाले लोग कहां चले गए। कोई-कोई कहते हैं कि देव अमर हैं, परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला देवता लोग तो अमर होने के कारण न देख पड़े, उनके नौकर-चाकर भंगी आदि क्यों नहीं दिखाई देते। ठीक बात तो यह है कि जो उत्पन्न हुआ है वह दिखलाई देता है और वह अवश्य एक दिन मरने वाला है। इस तर्कणा से देव भी मर गए। **यद्दृष्टं तन्नष्टम्।**

देव मरगए इससे यह अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर से उनका शरीर जाता रहा, परन्तु देवता और मनुष्य की आत्मा अमर है। इस प्रकार जाति के विचार से देवजाति अर्थात् विद्वानों का समूह अमर है अर्थात् सदैव कुछ न कुछ विद्वान् पुरुष रहते

हैं। इस कारण से कहा है कि—विद्वाꣳसो वै देवाः।[1] इसलिए देवजाति तो अमर है।

अब प्रश्न है कि हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़ क्यों हो गया और इसका क्या कारण है कि किसी स्थान अथवा लेख के दिन आदि का ठीक पता नहीं लगता है। इस विषय में जानना चाहिये कि मतलबी लोगों ने पुस्तकों में तारीख छिपा दीं और जैनियों वा मुसलमानों ने वे ग्रन्थ जला दिये। यह संक्षेप से देवताओं का इतिहास वर्णन किया गया।

विद्या का इतिहास—

अब संक्षेप रीति से विद्या का इतिहास कहा जाता है कि सबसे पहला विद्वान् देव ब्रह्मा हुआ। इसने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा चार ऋषियों के पास वेद पढ़ा। इस ब्रह्मा का पुत्र विराट्, उसका पुत्र मनु, मनु के दश पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि थे। इस समय में पढ़ने-पढ़ाने की रीति क्या थी, यह सरलता से विदित हो सकता है। ऋग्वेद की इक्कीस शाखा, यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, सामवेद की एक हजार शाखा और अथर्ववेद की नव शाखा थीं। इसी तरह पर ग्यारह सौ इकत्तीस शाखा पढ़ने-पढ़ाने के लिए थीं। चारों वेदों को अर्थ सहित जानने वाला जो यज्ञ का करने वाला होता था उसको ब्रह्मा कहते थे। ब्राह्मणों के बनाये हुए जो वेदों के व्याख्यान थे उनको ब्राह्मण पुस्तक कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मण और अनुब्राह्मण रूप बहुत-सी पुस्तकें हैं। साफ पानी और हवा जिन एकान्त स्थानों की होती थी, ऐसे एकान्त स्थानों पर जाकर रहने वाले ऋषि मन्त्रद्रष्टा, श्रवण वा मनन करने वाले वा पदार्थ विवेचन करने वाले, ब्रह्म-विचार करने के वास्ते वा सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिए नैमिषारण्य आदि स्थानों में सभा करते थे।

एक महर्षि पाणिनि की बनाई हुई अष्टाध्यायी में ही देखो कितने नाम ऋषियों के आये हैं। आजकल के स्वेच्छाधारी वैरागियों के समूह को देखकर कृपापूर्वक प्राचीन ऋषियों का अनुमान कदापि न कीजिए। सब तैयार की हुई पुस्तकों के आधार पर सिद्धान्तों की एक पुस्तक तैयार करते थे। फिर उस पर ऋषियों की सभा में विचार होता था।

राज-सभा के विषय में मनुजी कहते हैं कि—

मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥[2]

---

१. शत० ३।७।३।१०॥ २. मनु० ७।५४-५६॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः[1] ॥

अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुए वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कवि, गृहस्थ, अनुभवकर्त्ता सात अथवा आठ धार्मिक बुद्धिमान् मन्त्री राजा को रखना चाहिए; क्योंकि सहायता विना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमानी नहीं है। निदान महाराज को उचित है कि मन्त्रियों समेत छः बातों पर विचार करें—१. मित्र और २. शत्रु में चतुरता, ३. अपनी उन्नति, ४. अपना स्थान, ५. शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, ६. विजय किए हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य आदि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना।

इन श्लोकों से राज-सभा का वर्णन यथार्थ विदित होता है। पुराने राजा युद्ध करने वाले सिपाहियों की रक्षा अपने पुत्र की तरह करते थे, इसलिए उन सिपाहियों को युद्ध करने में बड़ा भारी उत्साह होता था। इन विचारों पर सब राजा लोग चलते थे और सब समान व देश की रक्षा करते थे और उनके लिए ख़जाना जमा करने में लगे रहते थे। मनुजी ने युद्ध में जय के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और उसी (में) युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए सिपाहियों के हक भी बतलाये हैं और क्षत्रिय का धर्म पूर्णतया वणन किया है। केवल यही नहीं; किन्तु मनुजी ने विद्या की रक्षा और विद्वानों के सत्कार आदि के लिये नियम भी बतलाये हैं।

महाभाष्य में लिखा है कि ब्राह्मण को छः अङ्गों समेत वेदों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यश्चेति।[2]

इन छः अ गों में व्याकरण मुख्य है और पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण हो गए हैं। इनकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। इस महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई हैं—१. शिक्षा, २, उणादिगण, ३. धातुपाठ, ४. प्रातिपदिक-गण, ५. अष्टाध्यायी। यह बात निश्चय करने के लिए कि पाणिनि कब हुए, अनेक प्रकार की तर्कणायें प्रस्तुत की जाती हैं; परन्तु इस विवाद से कुछ लाभ नहीं हो सकता। यह बात तो ठीक है कि पाणिनि बहुत पुराने ग्रन्थकर्त्ता हैं।

प्राचीन समय में चौदह विद्याओं के पढ़ने की रीति हमारे देश में थी। चार वेदों के नाम तो सभी जानते हैं। चार उपवेद और छः अग मिलकर चौदह होते हैं। चार उपवेदों और छः अग कौन होते हैं उनका विचार करेंगे।

चार उपवेद जो हैं उनमें से पहला आयुर्वेद है। इस पर जो ग्रन्थ चरक और

---

१. मनु० ७।५७॥
२. महा० अ० १ पा० १ आ० १॥

सुश्रुत मिलते हैं उनके बनाने वाले [अग्निवेश और] धन्वन्तरि ऋषि हैं। इस विषय का वर्णन हमारे सत्यार्थप्रकाश में तीसरे समुल्लास में किया गया है।

दूसरा धनुर्वेद है जिसमें अस्त्र-शस्त्र विद्या का विचार है। इस उपवेद में ब्रह्मास्त्र, पाशुपत-अस्त्र, नारायण अस्त्र, वरुण अस्त्र, मोहन अस्त्र, वायव्यास्त्र आदि की व्यवस्था लिखी है। ये सब अस्त्र वेदार्थ का विचार कर और वस्तुओं के गुण और दोष जानकर तैयार किये जाते थे। क्षत्रिय लोगों को यह धनुर्वेद बड़े परिश्रम से पढ़ना पड़ता था। यह कहना दिवानापन है कि केवल मन्त्रों के उच्चारण से शस्त्र और अस्त्र तैयार हो जाते थे।

तीसरा गन्धर्ववेद है, जिसमें विद्वानों ने गान-विद्या का वर्णन किया है। उस समय नये वेश की कविता अर्थात् पद, ध्रुवाद, ख्याल, लावनी आदि नहीं गाते थे। प्राचीन आर्य लोग वेदमन्त्रों का रसीला गायन करते थे।

चौथा अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। इसका विचार मयसंहिता, वाराहसंहिता, विश्वकर्मसंहिता आदि पुस्तकों में बहुत तरह पर किया है।

एक अपूर्व बात इस समय स्मरण हुई है, वह आपको सुनाता हूं—एक अंग्रेजी विद्वान् डाक्टर हमको मिला। उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डाक्टरी औजार का कुछ भी प्रचार न था और उन्हें विदित न था। तब मैंने सुश्रुत का 'नेत्र-अध्याय' जिसमें कि बारीक-से-बारीक औजार का वर्णन है, निकालकर उसे दिखाया। तब उसको ज्ञात हुआ कि आर्य लोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औजारों की विद्या भी उत्तम ज्ञात थी।

छः वेदाङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द, ६. ज्योतिष—ये सब मिलकर चौदह विद्यायें हुई। इन सब पुस्तकों का अवलोकन करने में बारह वर्ष लगते हैं और इन ग्रन्थों का दृढ़ अभ्यास करने से बुद्धि में उत्तमता पैदा होती थी। इस समय कुछ ऐसा अनुचित शिक्षा-प्रबन्ध का प्रचार हुआ कि इनमें से एक भी विद्या अत्यन्त परिश्रम करने पर चौबीस वर्ष में भी नहीं आती है। इसका कारण यह है कि केवल तोता-पाठ का घोषाघोष चलता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली बन्द करनी चाहिए। प्राचीन ऋषियों ने विद्या-स्नातक होने को ब्रह्मचारी के लिए केवल बारह वर्षों की हद रखी है। उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने ये सब विद्यायें बारह वर्षों में सीखी थीं ऐसा लेख मिलता है और यदि प्राचीन रीति के अनुसार इस समय भी शिक्षा दी जावे तो बारह वर्ष से विशेष समय इस काम में नहीं लगेगा।

अब कुछ थोड़ा-सा विचार छः दर्शनों का किया जाता है—

पहला दर्शन जैमिनि जी का बनाया मीमांसाशास्त्र है। इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष वा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों को माना है। धर्म का लक्षण करते हुए इन्होंने वर्णन किया है कि [वेद की] आज्ञा ही धर्म का लक्षण है।

दूसरा कणाद मुनि का बनाया वैशेषिक दर्शन है। इसमें द्रव्य को धर्मी मानकर गुण आदि को धर्म स्थापन करके विचार किया है। इन्होंने भी दो ही प्रमाण माने हैं और छः पदार्थों का निरूपण किया है।

तीसरा गौतम का बनाया न्याय-शास्त्र है। इसमें यह तर्क प्रारम्भ कराके धर्मी के धर्म और धर्म के धर्मी क्यों नहीं होता। प्रमाण और प्रमेय का सम्बन्ध बतलाया है और सोलह पदार्थ माने हैं।

इस पर कोई-कोई यह कहते हैं कि इन शास्त्रों में परस्पर विरोध है। इसलिए पहले विरोध शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। यदि एक विषय में अवगुण संयुक्त विचार का प्रवेश हो तो उसको विरोध कहते हैं; परन्तु यदि अनेक विषयों के विचार से अनेक विचारों का वर्णन हो तो उसको विरोध नहीं कहते हैं। ये छहों दर्शन अपने-अपने लेखों पर चलने वाले हैं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



एकादश-उपदेश

इतिहास-विषयक

गौतम ने निम्न रीति पर सोलह पदार्थों का वर्णन किया है--

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान। इसके अनन्तर आठ प्रमाण स्थापित करके इनकी जांच की है और अन्त में चार ही प्रमाणों के अन्तरंग आठों को ठहरा दिया है। इन प्रमाणों के मेल से अर्थ की जांच होकर सत्य और असत्य का विचार होता है। ये आठ प्रमाण हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. ऐतिह्य, ६. अर्थापत्ति, ७. सम्भव, ८. अभाव। इनमें से पांचवा तो चौथे में मिल जाता है और छठा, सातवां, आठवां में मिल जाते हैं।

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति का लक्षण यह है कि जिससे अर्थ का निश्चय हो उसको प्रमाण कहते हैं और जिससे कि ठीक अर्थ प्राप्त हो वह प्रमेय है। निश्चय करने वाला जो है उसे प्रमाता कहते हैं। अर्थ का विज्ञान जो उत्पन्न होता है उसको प्रमिति कहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमान की सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। जैसे एक वस्तु का पहला (=सामने का) भाग देखें तो हमको उस वस्तु का पूर्ण आकार समझ [नहीं] पड़ता है। वास्तव में यह विदित होता है कि उस वस्तु और उसके पिछले अवशिष्ट भाग का ज्ञान नहीं है। परन्तु विना अनुमान के यह नहीं हो सकता। फिर भी अगले भाग का एक देशी ज्ञान रहते हुए [भी एक भाग के दर्शन से] सम्पूर्ण भागों का ज्ञान अनुमान से हो जाता है।

कोई-कोई यह शंका किया करते हैं कि प्रमाण पहले या प्रमेय पहले? उत्तर यह है कि दोनों एक समय में होते हैं। इस पर यदि यह तर्कणा उठाई जावे कि दो वस्तुओं का ज्ञान एक बार जिसमें पैदा न हो यह ही मन की पहचान है[1]। फिर इसमें एक ही समय प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान क्यों कर हो सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि तर्कणा प्रमाण और प्रमेय पर नहीं हो सकती है, क्योंकि दूसरे के ज्ञान के लिए जो प्रमाण होता है [वह अपने ज्ञान की दृष्टि से प्रमेय भी होता है] इस तरह प्रमेय और प्रमाण का ज्ञान एक ही समय में हो जाता है। जैसे दीपक की तरफ देखो, तो वह दूसरी वस्तु का प्रमाण अर्थात् दिखाने वाला और स्वयं वह प्रमेय है; परन्तु दोनों बातें एक ही समय में हैं। सूर्य से प्रकाश होता है; परन्तु ऐसा नहीं

---

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्याय० १। १। १६॥

होता कि सब वस्तुएं पहले ही से दिखाई देने लग जाएं और प्रमेय जो सूर्य है वह पीछे दिखाई देवे। दोनों एक बार ही दिखाई देते हैं।

अब गौतम के विचार के अनुसार एक सत्य ही धर्म है। गौतम ऋषि ने शास्त्रों पर विचार करने वाले हम नये लोगों का बड़ा उपकार किया है कि इस समय एक प्रकार का वाक्छल (धोखा) मच रहा है। इस वाक्छल की तारीफ (=लक्षण) गौतम ने भलीभांति की है—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्त्रभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्[1] ॥

अपना प्रयोजन प्राप्त करने के लिए बोलने वाले के प्रयोजन के विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है। इसका उदाहरण किसी ने इस प्रकार कहा है—

नवकम्बलोऽयं माणवकः।

इस वाक्य में जो शब्द 'नव' है इसके दो अर्थ हैं—एक नया और दूसरा नववां है। अपने अर्थ के अनुसार बोलने वाले के अर्थ के विरुद्ध जो अर्थ लिया जावे वह वाक्छल कहलावेगा। साधारण रीति पर नव शब्द का अर्थ नया होता है, इसलिए ९ अंक (=संख्या) का अर्थ सम्भव नहीं है। गौतम ऋषि ने जाति वा व्यक्ति और आकृति इन्हीं का भली-भांति विचार किया है। जाति का लक्षण यह है कि—

समानप्रसवात्मिका जातिः[2]।

इस सूत्र के अनुसार जाति शब्द का उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए कि मनुष्य जाति, पशु जाति आदि। और जो जाति का अर्थ 'प्रकार' या 'भेद' करके एक ही वस्तु के भेद का किया जाता है उसको गौतम के सूत्र में कोई सहायता नहीं मिलती।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार योगशास्त्र में किया है।

मीमांसाशास्त्र में धर्म और धर्मी के लक्षण कहे हैं।

कणाद ऋषि के वैशेषिकशास्त्र में द्रव्य और गुण का यथार्थ विचार किया है।

गौतम के शास्त्र में यह वर्णन किया है कि प्रमाण और प्रमेय पर क्योंकर विचार करना चाहिए।

इन तीनों मीमांसा, वैशेषिक और न्यायशास्त्रों ने मानो श्रवण, मनन के साधन का ही द्वार बनाया है। अब श्रवण, मनन के आगे एक ही सीढ़ी है अर्थात् साक्षात्कार करना। इस विषय पर योगशास्त्र में वर्णन किया गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करने से और अविद्या की निवृत्ति से ज्ञान बढ़ता है। परन्तु वह निवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए, इस पर विचार होते हुए विदित होता है कि

---

१. न्याय। १। १। ५३॥ २. न्याय १। १। ५९।

सब वाहरी वस्तुओं का ज्ञान होते हुए भी मन बाहर खिंचा हुआ न रहे। बाहरी ज्ञान वर्तमान होते हुए अन्तर्मुख स्थिर रहना इसी का नाम निवृत्ति है। जैसे कोई एक नदी का वहाव वन्द कर देवे तो पानी पूर्णरूप से भर जाता है। इसी प्रकार बाहरी विषयों से चित्त को हटाने में स्वयं दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है। यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि—बाहरी विषयों में आसक्त न रहे। इसके लिए एकान्त स्थान में बैठकर समाधि लगाना चाहिए। कारण यह है कि एकान्त में बैठने से [बाहरी विषयों से] चित्त निवृत्त होता है। परन्तु नित्य प्रति एकान्त में ही रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि मुख्य कर एकान्त में रहने से भी ज्ञान नहीं होता। सत्संग से ही ज्ञान प्राप्त होता है। योगशास्त्र का उपाय ईश्वर के साक्षात् करने पर है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[1]।

इसमें द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है। योगी विभूति को शुद्ध करता है यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियां हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि [योगी का चित्त] छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है। इस तरह पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार हो जाने से निस्सन्देह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं कि—

तत्र ध्यानजं ज्ञानमनाशयम्[2]। तत्र ऋतंभरो प्रज्ञः।[3]

अब योग के आठ अंग कहे गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। यम पांच हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। इनका और नियमों का वर्णन पहले ही भली-भांति किया है।

स्थिरसुखमासनम्।[4]

यह आसन का लक्षण कहा है। आसन वही है कि जिसमें सुख से बैठकर ईश्वर से योग हो सके, तो फिर नये लोगों का यह कहना कि यह चौरासी आसनों वाला भानमती का तमाशा ठीक है, कैसे मान लिया जावे। इसी तरह पर प्राणायाम के विषय में तमाशा बन रहा है। प्राणायाम की यथार्थ प्रशंसा प्रथम ही वर्णन कर चुके हैं। नासिका और मुख बांधकर प्राणों की रुकावट करने से कुम्भक होता है, तो जो लोग फांसी पर चढ़ते हैं, उन्हीं को कुम्भक का ठीक साधक समझना चाहिए। यथार्थ स्वरूप कुम्भक का यह है कि वायु बाहर की बाहर रोक रखना।

---

१. योग १।३॥ २. द्र० तत्र ध्यानजमनामयम्। योग ४।६॥
३. द्र० ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योग १।४८॥ ४. यो० २।४६॥

बाहर निकालने में विशेष उपाय करने से रेचक होता है। भीतर-के-भीतर प्राणों को रखने से पूरक होता है। यह प्राणायाम का विधान है।

अब हठ-योग का विधान वर्णन किया जाता है। हठ-योग में 'बस्ति' उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते से पानी चढ़ाकर सफाई करना। टकटकी लगाकर इस तरह देखने को कि जिसमें पलक न झपके 'त्राटक' कहते हैं। नासिका में सूत्र डाल कर मुख से निकालने को 'नेति' कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डालकर फिर बाहर निकालने को 'धोती' कहते हैं। यह बाजीगरी का खेल है। इनसे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे? यह हठवाले ही जानें। इन कामों से बीमारियाँ पैदा होती हैं।

अब प्राणायाम का विचार किया जाता है। प्राण अर्थात् श्वास और आयाम अर्थात् लम्बाई—तात्पर्य श्वास की लम्बाई को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम का प्रयोजन है कि बहुत देर तक श्वास रोका जावे। बहुत समय तक प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र हो जाता है प्राणायाम का मुख्य काम यह है कि यदि योगशास्त्र के अनुकूल श्वास भीतर बाहर छोड़े तो शरीर की नीरोगता की उन्नति होती है।

ईश्वर में लौ लगाने को प्रत्याहार कहते हैं।

मुख्य-मुख्य स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है।

आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में लगाकर उस वस्तु पर मनन करने का नाम ध्यान है।

ईश्वर में लय होने का नाम समाधि है।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र हो जावें, तो उसे संयम कहते हैं।

इसी प्रकार पतञ्जलि मुनि ने उपासना की युक्ति बतलाई है और मुक्ति के अनेक साधनों का यथार्थ वर्णन किया है। परमेश्वर में चित्त लगाने की शिक्षा करते हुए कहीं भी यह नहीं बतलाया गया कि मूर्तिपूजा भी कोई साधन है। इसलिए उपासना के वर्णन में कहीं भी मूर्तिपूजा का सहारा नहीं मिलता है।

अब यह देखना है कि सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हुई। सांख्यशास्त्र का मूल मुख्यकर पदार्थों की गिनती करने के वास्ते है। सांख्य के कर्त्ता कपिलदेवजी कहते हैं—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्।[1]

मैं वैशेषिक आदि के अनुसार छः पदार्थों को मानने वाला नहीं हूँ और फिर बहुत से विवाद के पीछे यह निश्चय करते हैं कि अवस्तु के अभाव से विवेक होता

---

१. सांख्य० १।२५ ॥

हैं। अब इस पर यह उत्तर ठहरता है कि इस सांख्यशास्त्र व अन्य शास्त्रों के साथ विरुद्ध नहीं तो क्या है? परन्तु यह विरुद्धता केवल बाह्यदृष्टि से ही विदित होती है किन्तु अन्त में सांख्यकर्ता उसी निर्णय को पहुँचता है जो कि अन्य शास्त्रकारों का सिद्धान्त है; क्योंकि सांख्यकर्ता अविवेक का चित्र खींचता है और अज्ञान, अविद्या भ्रम और अविवेक सब एक ही अर्थ में आते हैं।

अन्य देशों के नवीन विद्वान् लोग तत्त्व शब्द की तारीफ यह करते हैं कि जो मुफरद[1] हो अर्थात् आर्य शास्त्रकारों को पञ्चभूत (अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, आकाश मानने पर निषेध करते हैं; परन्तु यह दोष कदापि नहीं आ सकता; क्योंकि गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्द इन पांचों सिफ्तों[2] के मौसूफों[3] को जुदे जुदे नाम दिये गए हैं और वे ही पञ्चभूत कहलाते हैं। सांख्यशास्त्र में २५ पदार्थों का निरूपण किया गया है, जो कि इस शास्त्र के अवलोकन से विदित हो सकता है—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः

आचार्य [पिङ्गल] ने अलंकार शास्त्र बनाये हैं, जिन पर कि भाष्य भी हुए हैं अर्थात् विस्तार से लिखा है। इस आर्ष ग्रन्थ में गन्दे अधर्म की रीतियों पर रुचि को बढ़ाने वाले रस कुछ भी नहीं हैं। इसका मुकाबला नवीन अलंकार ग्रन्थों के साथ कीजिए, जिनमें कि गन्दापन, झूठ और शृङ्गार रस भरे पड़े हैं।

नालिङ्गिता प्रेमभरेण नारी वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्।

अर्थात् जिस पुरुष ने प्रेम में मस्त होकर स्त्री को गले में नहीं लिपटाया उसका जन्म निष्फल हो गया और फिर इस तरह के बेढंगे अलंकार हैं जैसे—हे स्त्री! तेरा मुख चन्द्रमा के समान है इत्यादि। ऐसे दीवानापन के अलंकार में मग्न होकर क्या हो सकता है। किन्तु एक पत्नीव्रत करके जो पुरुष गृहस्थाश्रमी रहेंगे, वही ब्रह्मचर्य धारण करने के योग्य होंगे।

छठा दर्शन वेदान्त "उत्तरमीमांसा" है जिसके कर्त्ता व्यासजी हैं। उन्होंने ब्रह्म को कारण बतलाकर जगत् को कार्य कहा है और कार्य, कारण इन दोनों पदार्थों की जांच की है। व्यासजी ने पहले सृष्टि का वर्णन किया है। अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार के प्रलय वर्णन किये गये हैं अर्थात् वैशेषिक में अप्रमेय मण्डल तक, गौतम ने परमाणुओं तक और सांख्यकर्त्ता ने प्रकृति तक वर्णन किए हैं। परन्तु वेदान्त में महाप्रलय का वर्णन किया है। इस महाप्रलय में परमात्मा और उसकी सामर्थ्य ही स्थित रहती है। इस तरह पर दूरदृष्टि बुद्धि से देखा जावे तो छहों शास्त्र अपनी रीति पर वर्णन करते हैं। इनमें विरुद्धता किसी तरह की भी नहीं है।

अब मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती) पर फिर किसी प्रकार विचार किया जाता है।

---

१. व्यस्त, अमिश्रित, एकाकी। २. अर्थात् गुण।
३. अर्थात् गुणी।

पराशर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में मूर्तिपूजा का नाम भी नहीं है और कल्पसूत्रों में भी मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। इन ग्रन्थों पर परिशिष्ट रचे गए हैं। उनमें चाहे मूर्तिपूजा होवे। परिशिष्ट का स्पष्टार्थ क्या है ? यह सब विद्वान् लोग जानते हैं। शास्त्रों की दृष्टि से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती है।

अब फिर इतिहास का कुछ वर्णन किया जाता है। राजा शन्तनु ने सत्यवती से विवाह किया, उससे दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् भीष्मपितामह काशी के राजा से तीन कन्यायें लाया। उनमें से अम्बा का विवाह शाल्व से हुआ। अम्बिका और अम्बालिका दोनों ने विचित्रवीर्य के साथ विवाह किया। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी के पुत्र विदुर पैदा हुए। पांडु ने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया, उनके नाम कुन्ती और माद्री थे। माद्री ईरान के राजा की पुत्री थी। धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धारी कंधार की रहने वाली थी। उसका भाई शकुनि कन्धार का राजा था, दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर में रहता था। कुन्ती और माद्री दोनों ने पुत्र के लिए नियोग किया था। उनमें धर्म [वायु और इन्द्र से नियोग करने पर युधिष्ठिर] भीम और अर्जुन उत्पन्न हुवे और इसी प्रकार अश्विनीकुमार से नियोग करने पर नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इसमें [धर्म] इन्द्र, वायु से नाम समझना चाहिए। स्पष्ट विदित है कि वायु के संसर्ग से पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। धृतराष्ट्र के यहां कहा जाता है कि एक ही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए।

इन सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयंबर होता था अर्थात् कन्या स्वयं अपना वर पसन्द कर लेती थी। किन्तु इस समय के अनुसार विवाह नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी समय नाता कर देते हैं जबकि वे दोनों गर्भ में ही होते हैं। यह कैसी फजीहती की बात है। विवाह के समय पर धर्म, अर्थ और काम के परस्पर निर्वाह के लिए निर्णय होता है। वह निर्णय विना पुत्र और पुत्री वर्त्तमान हुए कैसे हो सकता है ? प्राचीन आर्यों में यह दृढ़ रीति थी कि प्रत्येक मनुष्य विद्याभ्यास करे। जब तक कि विद्या के भूषण से भूषित नहीं होते थे तब तक पुरुष-स्त्री को विवाह करने की आज्ञा राजसभा से नहीं मिलती थी।

जनमेजय के राज्य तक चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव होता था और वे सामाजिक नियम, राज-सभा, धर्म-सभा, विद्या-सभा के प्रबन्ध में रीत्यनुसार चलते थे। यह बात कि चारों वर्णों का परस्पर में वर्ताव कैसा था, आप लोगों को महाभारत के राजसूय पर्व और अश्वमेध पर्व के देखने से विदित हो जावेगा। मनुजी ने कहा है प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के हक़ बराबर थे। इस समय में तो सब प्रबन्ध ही उलटा हो गया है। अब घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे, तो धर्म गया। अंगरखा लम्बा पहना गया, तो धर्म गया। खाने-पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इन

खाने-पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी सारी बड़ाई पर चौका लग गया। प्राचीन समय में सब क्षत्रिय-राजा और ब्राह्मण ऋषि आदि एक ही सभा में भोजन किया करते थे। इस समय इस प्रकार की रीति सिक्खों में रणजीतसिंह के समय तक थी। कुरीतियों से कभी भी जन्म का फल पूरा नहीं होता है। ब्राह्मण लोग छूत-छात का ढोंग मचाते हैं। परन्तु वह ढोंग हींग, शक्कर आदि पदार्थ सेवन करते समय कहां जाता है। यदि यह कहो कि केवल दृष्ट का ही दोष होता है तो जो वस्तु दिखलाई न दे क्या उसका दोष नहीं है। क्या भूल से यदि भांग खा ली जावे तो नशा न करेगी ?

बड़ी-बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुत-सी फिर्काबन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढ़ता जाता है, चाहे कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो, गुजरात देश में दोनों मौकों पर बिरादरी को खिलाना पड़ता है। ऐसा खर्च किस काम आवेगा ? एक का मरना और भूषंडों का पेट भरना, मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को कर्ज में डुबाना, इससे बढ़कर दीवानापन और क्या हो सकता है ? इन बिरादरियों के झगड़ों और अनेक कारणों से युद्ध में कैसी कैसी रुकावटें होती हैं। एक बात कहता हूँ सुनने के योग्य है। पंजाब के राजा रणजीतसिंह का हरिसिंह (नलवा) नामी एक सरदार था। उसने काबुल कन्धार पर चढ़ाई की और इन पर विजय पाकर निवास किया। मुसलमानों ने यह समझकर कि हिन्दू बैरी हैं इनका सामान जो आ रहा था, उसको रास्ते में रोक दिया। दोपहर के समय तक जब कुछ न मिला तो हरिसिंह के सिपाही भूख से व्याकुल होकर घबड़ा गए और सब मिलकर हरिसिंह के पास गए। इस समय हरिसिंह ने मुसलमानों के उत्तर में उलटी तदबीर निकाली और सिपाहियों को आज्ञा दे दी कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा करो। यह आज्ञा पाकर सिक्खों की सेना ने धावा कर दिया और जो खाना कि मुसलमान लोगों ने अपने लिए तैयार किया था, वह सब लूट लाये और उसको हरिसिंह के पास ढेर लगा दिया और फिर हरिसिंह ने कहा कि सूवर का एक दांत ले आओ। वे दांत ले आए। वह सूवर का दांत हरिसिंह ने उस भोजन के ढेर के चारों तरफ फेर दिया और सिपाहियों से कहा कि अब यह सारा अन्न शुद्ध हो गया। अब इसके खाने में हिन्दुओं को कुछ भी दोष नहीं है। ऐसा कहकर आपने भोजन किया, फिर सिपाहियों ने पेट भरकर अपने कष्ट को दूर किया। ऐ सुनने वालो ! क्या चौके के बखेड़े में तुम अपना धर्म स्थिर रख सकते हो, इस पर विचार करो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



द्वादश-उपदेश

इतिहास

पूर्व व्याख्यानों से आर्य लोगों का इतिहास चित्रांगद और विचित्रवीर्य तक पहुंचाया गया था। प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे, बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था; क्योंकि आर्य इतिहासों में प्राय: स्वयंवर का ही वर्णन आता है। विधवा-विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का प्रचार था विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं; क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे। प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आज कल उनकी संतान अनार्य हो गई। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियां कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि कैसी-कैसी विदुषी स्त्रियां हो गई हैं। आजकल स्त्री को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं, वह शूद्र के समान है। यदि स्त्रियां पढ़ी-लिखी होतीं, तो इन पण्डितों की बड़बड़ाहट का खण्डन करके एक घड़ी में इनका मुंह बन्द कर देतीं। यदि इस समय हम लोगों में बाल-विवाह प्रचलित न होता तो विधवाओं की संख्या कभी इतनी न होती और न इतने गर्भपात और भ्रूण-हत्याएं होतीं और न इतनी रोगों की अधिकता होती। प्राचीन समय में यदि कोई धनाढ्य पुरुष निःसन्तान होता, तो आर्यसभा की व्यवस्था से उसका दायाद वारिस नियत होता था। विधवा स्त्री होती, तो उसको नियोग की आज्ञा दी जाती थी और प्राय: विधवायें ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में प्राय: नियोग से निर्वाह होता था। यहाँ कोई यह प्रश्न करेगे कि नियोग और पुनर्विवाह में क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि पुनर्विवाह से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध जन्म भर के लिए होता है और जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे द्वितीय पति की समझी जाती हैं। विपरीत इसके नियोग का सम्बन्ध एक या दो सन्तान उत्पन्न होने तक रहता है, इसके बाद स्त्री-पुरुषों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता वे एक या दो सन्तान पूर्व-पति के ही समझे जाते हैं और उसी का नाम चलाते हैं। आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है। क्योंकि यदि विधवा-विवाह की आज्ञा मिल जावे, तो स्त्रियां अपने पतियों को विष देकर मारना आरम्भ कर दें और यदि पहले पति की

जायदाद [illegible] विधवा स्त्री दू[illegible] पति कर लेगी तो उसमें और उसके पूर्व पति के सम्ब[illegible] में बहुत-से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी।

विवाह में परस्पर स्त्री-पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन-चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं और उन मन्त्रों का अर्थ करके कोई समझता भी नहीं है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मन्त्र के सुनने से पुण्य होता है, चाहे मन्त्र बोलने वाला उसका अर्थ समझे या न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा दे दी कि सब विधान ठीक-ठीक हो गया। वाह रे! तुम्हारा सामाजिक प्रबन्ध। इस अन्ध परम्परा को देखकर तो मानना पड़ता है कि इससे विधवा-विवाह सब प्रकार अच्छा है।

यह बात कि "पहले तीन वर्णों में नियोग और शूद्रों में विधवा-विवाह" प्राचीन आर्य लोगों के विरुद्ध नहीं है। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ४० का मन्त्र २ देखने योग्य है। प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को अपने साथ रखा करते थे। यही विषय इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। कोई-कोई पण्डित उस मन्त्र में "देवर" शब्द के अर्थ पति के छोटे भाई के करते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि निरुक्त में दूसरे पति का नाम देवर बतलाया है[1]। इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १८ का मन्त्र ८ भी द्रष्टव्य है[2]। इसी प्रसंग में एक बात और विज्ञापनीय है। वह यह है कि किन्हीं विशेष दशाओं में पति के जीते जी भी नियोग की आज्ञा मिलती थी। नियोग १० बार [तक] करने की आज्ञा थी इसमें ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ के मन्त्र ४५ का प्रमाण है। ऋग्वेद के इसी मण्डल के इसी सूक्त के मन्त्र ४५ का अर्थ भी आजकल के पण्डित मनमाना करते हैं जो कि मानने योग्य नहीं।

महाभारत में लिखा है कि व्यासजी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा-स्त्रियों से नियोग किया था। मनुजी ने भी नियोग की आज्ञा दी है। प्राचीन आर्यलोगों में पति के जीते भी नियोग होता था, इसकी पुष्टि में महाभारत में लिखे हुए बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यासजी बड़े पण्डित और धर्मात्मा थे, उन्होंने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग किया और इनमें से एक गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी की कुक्षि से पाण्डु उत्पन्न हुए और यह पहले ही वर्णन हो चुका है कि पाण्डु की विद्यमानता में ही उसकी स्त्री ने दूसरे पुरुषों के साथ नियोग किया था। इस प्रकार नियोग का उस समय प्रचार था। पुनर्विवाह की अधिक आवश्यकता ही नहीं होती थी। अब इस समय नियोग और पुनर्विवाह दोनों के बन्द होने से आज कल के आर्य लोगों में जो-जो भ्रष्ट

---

१. देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। निरुक्त ३। १५॥

२. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥ १॥

३. अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। ऋ० १०। १०। १०॥

चार फैला हुआ है, वह आप लोग देख ही रहे हैं। हजारों गर्भ गिराये जाते हैं, भ्रूणहत्याएँ होती हैं। एक गर्भ गिराने से एक ब्रह्म-हत्या का पाप होता है। सोचो कि इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें प्रतिदिन होती हैं? क्या कोई उनकी गणना कर सकता है? इन सब पापों का बोझ हमारे सिर पर है।

देखो! प्राचीन सामाजिक प्रबन्ध के बिगड़ने से हमारे देश की दुर्दशा हो रही है। वेद-मार्ग को एक तरफ ढकेलकर पुष्टि-मार्ग चमक रहा है। महन्तों और साधुओं के राजसी ठाठ लगे हुए हैं। देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भरमार हो रही है। न जाने कितने गर्भ गिराये जाते होंगे। यह पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है। जब तक स्वार्थी और लम्पट लोग लोकाचार की लीक बनाते रहेंगे और साधारण लोग अन्ध-परम्परा से उस पर चलते रहेंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं हो सकता। धर्म के विषय में लोग परम्परा की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, परन्तु क्या सांसारिक विषयों में भी ऐसा ही है? क्या यदि बाप दरिद्र हो, तो परम्परा के अभिमान से बेटा भी दरिद्र होगा? यदि बाप अन्धा हो तो क्या बेटे को भी परम्परा के लिए आँख फोड़ लेनी चाहिए?

वेदबाह्य रीतियों को हमें परम्परा की पदवी कभी नहीं देनी चाहिए। सदुपदेशपूर्ण वेदों और आर्ष ग्रन्थों में जिस सच्ची परम्परा का विधान किया गया है, उसका पालन करना चाहिए। अस्तु, अब फिर इतिहास का वर्णन किया जाता है।

राजा धृतराष्ट्र स्वभाव से ही कपटी था और पाण्डु धर्मात्मा था। पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गई थी। सती होने के लिए वेद की आज्ञा नहीं है; किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली। कौरव और पाण्डवों ने उत्तम शिक्षा प्राप्त की। धृतराष्ट्र ने अपने और पाण्डु के पुत्रों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। उस समय ब्राह्मण लोग युद्ध-विद्या के भी आचार्य होते थे। अर्जुन ने धनुर्वेद में सबसे अधिक अभ्यास किया। इसलिए युद्ध-विद्या में उसकी बड़ी ख्याति हो गई। अर्जुन का समकक्ष कौरवों में केवल कर्ण ही था। पर कर्ण सूतपुत्र अर्थात् सारथि का बेटा था। इसलिए अर्जुन ने कर्ण की अवज्ञा की थी, परन्तु इस अवज्ञा से लाभ उठाने के लिए दुर्योधन ने कर्ण को बंगाल का राज्य देकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार दे दिया था। इस प्रकार अनुचित अभिमान से इस राजकुल में द्वेष से आग भड़की। इसी द्वेष से अपने आर्यावर्त्त की सारी दुर्दशा हुई। वह वर्णन करने के योग्य नहीं।

उस समय धृतराष्ट्र के पास एक नीच, छिछोरा, कामुक कनक नामी एक शास्त्री रहता था। उसने पाण्डवों के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहकर धृतराष्ट्र का मन उनसे फेर दिया। फिर इसी दुष्ट शास्त्री की सलाह से पाण्डवों को भस्म करने के लिए एक 'लाख' का घर बनाया गया। राज-सभा का प्रबन्ध तो पहले ही बिगड़ चुका था। उस पर शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन और कनक शास्त्री की चाण्डाल-चौकड़ी जम गई। इस चाण्डाल-चौकड़ी की करतूत से राज्य की जैसी दुर्दशा हुई और उसका

जैसा भयानक परिणाम हुआ, उसका सविस्तार वृत्तान्त महाभारत में विद्यमान है।

विदुर को दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी के मनसूबे मालूम थे। 'लाख' के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी, जिसके कारण पाण्डव 'लाख' के घर में जलने से बच गए थे।

देखो विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जानने वाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजों से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं, तो वे कहने लगते हैं—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥

यदि प्राण गले तक आ जायें अर्थात् मृत्यु सा समय तक क्यों न आ जावे; परन्तु यावनी भाषा को नहीं बोलना चाहिए और मत्त हाथी भी सामने से आता हो, तो जैनमन्दिर में कदापि आश्रय न लेवे।

अर्जुन की मत्स्यवेध विद्या में बड़ी प्रशंसा की जाती है, परन्तु यह बात मत समझो कि हमारे देश में अब ऐसे योग्य शूर पुरुष रहे ही नहीं। हमने स्वयं राजपूत लोगों को मत्स्यवेध से अधिकतर कठिन काम करते हुए देखा है।

कर्ण का जो पाण्डवों ने अपमान किया था, इसलिए वह द्रौपदी से छल करने पर उद्यत हुआ—यह कथा सब जानते हैं। राज-सभा ने यह निर्णय किया कि राज युधिष्ठिर होना चाहिए, परन्तु धृतराष्ट्र ने अत्याचार से [अधिकार] छीन लिय था। इसके पश्चात् जो-जो कष्ट पाण्डवों को झेलने पड़े, उनको सब जानते हैं। फिर जब पाण्डवों का भाग्योदय हुआ, तब उन्होंने राजसूय यज्ञ रचा। मय नामक एक बड़ा शिल्पी था, उसने एक विचित्र सभा बनाई। (प्राचीन आर्य लोगों की शिल्प-विद्या का इतिहास सुनने योग्य है) इस राजसूय यज्ञ में सहस्रों मनुष्य आये थे। मय ने ऐसी रचना-चातुरी की थी कि स्थल में जल का सन्देह होता था। दुर्योधन ने इसे सचमुच जल समझ कर अपने कपड़े उठाकर समेट लिए। यह देखकर भीमसेन मुस्कराया और अक्खड़पन से कह दिया कि अन्धे'[1] के अन्धा ही पैदा हुआ। दुर्योधन खिसियाना हुआ और कनक शास्त्री ने बात का बतंगड़ बनाकर उसे और भी भड़का दिया। उस समय अर्जुन और कृष्ण ने दुर्योधन को समझा-बुझा दिया। तदनन्तर एक बड़ा भोज हुआ, जिसमें ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबने एक पङ्क्ति में बैठकर भोजन किया।

इसके बाद छल से द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर आदि को फंसाकर वनवास और

---

१. दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा था।

अज्ञातवास दिया गया। विराट् राजा के नगर में रहते हुये अर्जुन ने विराट् राजा की कन्या उत्तरा नाम्नी को नृत्यकला की शिक्षा दी थी। इससे प्रकट है कि प्राचीन समय में राजकुमारियां भी गान-विद्या और नृत्य-कला सीखती थीं। चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता, जब तक कि आपस में फूट न हो। कुरु-वंश में फूट पैदा हो गई और स्वार्थ और विद्रोह बुद्धि ने लोगों को अन्धा बना दिया। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। भीष्म जैसे विद्वान् और धर्मवादी पुरुष पक्षपात के रोग में ग्रस्त हो गए। उनको उचित तो यह था कि वे मध्यस्थ होकर दोनों पक्षों का न्याय करते और अपराधियों और अन्यायियों को दण्ड दिलाते। ऐसा न करके उन्होंने अन्यायियों का पक्ष करके कुरु-वंश का नाश होने दिया। देखिए भीष्म क्या कहता है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति मत्वा महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

"धन का मनुष्य दास है, धन किसी का दास नहीं। ऐसा मानकर मैं स्वार्थ में बंधा हुआ कौरवों के पक्ष में हूं।"

इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट होने से और द्वेष बढ़ने से भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि कौरव एक तरफ हुए और पाण्डव दूसरी तरफ हुए और बड़ा भारी युद्ध हुआ। इस युद्ध में तीन मनुष्य कौरवों की ओर के अर्थात् १. कृपाचार्य, २. कृतवर्मा, ३. अश्वत्थामा और ६ पाण्डवों की ओर के अर्थात् ५ पाण्डव और छठे कृष्ण जीवित रहे थे शेष सबका नाश हो गया। इस युद्ध से प्राचीन आर्य लोगों का वैभव सदा के लिए अस्त हो गया।

इस सब अनर्थ का कारण केवल यह था कि सम्मति देने का काम नीच और क्षुद्र लोगों को सौंपा गया था। ऐसे अयोग्य जन नेता परामर्श देने वाले बन गए। जहां शकुनि जैसे संकीर्ण हृदय और क्षुद्रमनस्क जन की सम्मति से राज्य-कार्य चलने लगे; कनक शास्त्री महाराज धर्माधर्म का निर्णय करने लगे; वहां यदि घर में फूट उत्पन्न होकर घरवालों का विनाश हो, तो आश्चर्य ही क्या है!

इसी प्रकार जिस देश में केवल सचाई के अभिमान से मार्टिन लूथर जैसे उदारचेता पुरुषों ने सामयिक लोगों के विरुद्ध होते हुए भी पोप के अत्याचार के विरुद्ध उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और अपने प्राण तक न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो गए; उस देश में यदि ऐश्वर्य और अभ्युदय का डंका बजा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी रीति पर कुरु-कुल का तो नाश हो गया। अब कृष्णजी द्वारिका में राज्य करते थे, वहां उस समय यादवों ने बड़ी उन्नति की थी। दुर्भाग्य से इनमें भी प्रमाद और विषयासक्ति के कारण आपस में फूट पड़ गई, जिससे सब लड़-मरकर अल्प काल में ही यादव कुल का नाश हो गया।

पाठक ! प्रमाद का फल देखिये, बलदेव मद्य पीने लगा और डूबकर मर गया। सात्यकि सांप से लड़ा। ऐसे मूर्खता के काम जहां होने लगें वहां श्रीकृष्ण जैसे सत्पुरुषों की बात कौन सुने ? इन प्राचीन आर्यों के युद्ध के पश्चात् केवल इनकी स्त्रियां ही शेष रह गई थीं।

इनमें अभिमन्यु का पुत्र एक परीक्षित भी बचा था, वह कुछ विक्षिप्त-सा था, उसके समझ में आर्ष ग्रन्थ नहीं आते थे। इसी कारण उसके समय में कुछ-कुछ पुराणों का प्रचार हो चला था। उसका पुत्र जनमेजय हुआ और उसके पीछे वज्रनाथ ने राज्य किया। इतने समय में सम्पूर्ण वैभव का नाश हो गया। राज-सभा, धर्मसभा और विद्यासभा तीनों डूब गईं। केवल एक राजा की इच्छानुसार सब राज्य-कार्य होने लगा। विद्वान् और सच्चरित्रों को, जो विधि-निषेध की मीमांसा और व्यवस्था करने का अधिकार था, वह दूर हो गया। व्यास, जैमिनि और वैशम्पायन आदि महर्षि न रहे। चक्रवर्ती राज्य नष्ट होकर यत्र-तत्र माण्डलिक राज्य स्थापित हो गए। ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया।

ब्रह्मवाक्यं प्रमाणम्। ब्राह्मणास्तु भूदेवाः।

इस प्रकार की उलटी समझ लोगों में फैल गई, जिससे मनुष्य अन्धपरम्परा के दास बन गए और भी देखिये, ब्राह्मणों की लीला—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे।
सागरे यानि तीर्थानि पदे विप्रस्य दक्षिणे॥

पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, वे सब समुद्र में आ जाते हैं और समुद्र में जितने तीर्थ हैं, वे सब ब्राह्मण के दाहिने पैर में हैं :

ऐसे लोगों के जाल में भोले-भाले लोग फंस गए। जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब इन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गए।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत्। प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते॥[1]

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनायें करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए। यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥[2]

---

१. मनु० ९।३१७, ३१८॥   २. मनु० ९।३१९॥

यदि दुष्टाचरण वाले ब्राह्मण की कोई निन्दा करता, तो उसको ब्रह्मविरोधी कहकर उसकी हड्डी-हड्डी निकाल लेते थे। निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयां इन्हीं में घर कर गईं। सदाचार विलुप्त हो गया धूर्त्तता और अत्याचार बढ़ गया मूर्खता ने देश में अपना डेरा-डण्डा जमा दिया। जब देश की ऐसी दुर्दशा हुई, तब गाजीपुर नगर में एक राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ (जो पीछे जाकर बुद्ध बना) उसने वेदों की निन्दा करके ब्राह्मणों के अत्याचार से दूसरे लोगों को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। इसके उपदेश से लाखों मनुष्य बौद्ध-धर्मानुयायी हो गए। बुद्ध और उसके पश्चात् जैनमत के फैल जाने से निरीश्वरवाद बढ़ गया। ईश्वर की पूजा के स्थान में मूर्तिपूजा प्रचलित हुई। बौद्ध और जैनमत में ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु वे उन सिद्धों और तीर्थंकरों की भक्ति वा उपासना करना सिखलाते हैं, जो उनकी दृष्टि में महात्मा वा सत्पुरुष हुए हैं। यही कारण है कि बौद्ध वा जैन लोग अपने तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर रखते हैं। पहले पारसनाथ आदि तीर्थंकरों की मूर्तियां बनाकर जैनों ने उनका पूजन आरम्भ किया, फिर उनका देखा-देखी पौराणिक लोग भी अपने इष्ट देवों की मूर्तियाँ बनाने लगे। इस प्रकार वेदों का आत्मवाद और एक ईश्वर की पूजा इस देश से उठ गई। लोग मन्दिरों में जाकर मूर्तियों की उपासना करने लगे और इसी को धर्म का मुख्य अंग मानने लगे। जैनी लोगों में कुछ सहिष्णुता पाई जाती है, परन्तु इन्होंने वेद-मार्ग को विध्वंस करने के लिए कोई उपाय उठा न रखा। वेदों पर बड़े-बड़े आक्षेप किए। "वेद में अश्लील गाथायें हैं, वेद में हिंसा है, वेद में बहुदेववाद है और वेद में अधिकतर ब्राह्मणों का और कुछ-कुछ क्षत्रिय, वैश्यों का पक्षपात किया गया है।" इत्यादि आक्षेप किए। इनके विरोध और खण्डन से वर्णाश्रम व्यवस्था को बहुत कुछ हानि पहुँची। यहीं तक सन्तोष नहीं किया, किन्तु जैनियों ने बहुत-से वैदिक ग्रन्थ जलाकर भस्मसात् कर दिए।

इनके पश्चात् श्रीयुत गौड़पादाचार्य के प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्यजी प्रादुर्भूत हुए। शंकर स्वामी वेद-मार्ग और वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले थे। उनकी योग्यता कैसी उच्च कक्षा की थी, यह उनके बनाये शारीरिक भाष्य से विदित होताहै। शंकर स्वामी के समय में जो अनेक पाखण्ड मत चले थे और जिनका कि उन्होंने खण्डन किया है, वह शंकर-दिग्विजय के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट होते हैं—

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रन्यैरप्यखिलैः खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम् ॥

इससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रीमान् स्वामी शंकराचार्य ने वेद-विरुद्ध मतों के खण्डन में कितना उद्योग किया है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

त्रयोदश-उपदेश

इतिहास

सुधन्वा राजा के साथ जो बौद्धमत का अनुयायी था, शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें प्रतिज्ञा यह हुई थी कि यदि शंकराचार्य पराजित हुए, तो उन्हें बौद्धमत स्वीकार करना होगा। बौद्ध पण्डित वेदों की निन्दा करते हुए कहते थे कि वेदों के बनाने वाले भाण्ड, धूर्त और राक्षस हैं। [इस प्रकार के] झूठे दोष वेदों पर लगाते हैं। यदि महीधर की तरह वेदों का अर्थ किया जावे, तो बौद्धों के आक्षेपों को अवकाश मिलता है। 'गभ' शब्द को 'भग' से बदल कर महीधर ने अर्थ का अनर्थ कर दिया है। शतपथ ब्राह्मण में इसके अर्थ प्रजा, राष्ट्र या श्री के किए हैं। शोक है कि आजकल के शास्त्री लोग भी महीधर के अर्थों को मानते हैं। अश्व शब्द के अर्थ शतपथ के प्रमाण से यदि 'अग्नि' के किए जावें जिसको कि महीधर ने गन्देपन में घसीटा है, तो बौद्धों के आक्षेप वेदों पर से दूर हो जाते हैं और यदि हठ से महीधर जैसे अनार्य टीकाकार का पक्ष किया जावे तो बौद्ध लोगों के आक्षेप कैसे दूर हो सकते हैं? बुद्धिमानों को इस पर विचार करना चाहिए क्योंकि महीधर के जैसे मनमाने अर्थ करने के कारण वेद [और] ईश्वर से विमुख तीर्थंकर और केवल स्वभाव को मानने वाले मत पैदा हो गए।

सुधन्वा राजा शास्त्रार्थ में हार गया और उसने वेद-मत को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् शंकराचार्य बुद्ध गया* में गए, वहां का राजा कट्टर बौद्ध था, वर्णाश्रम व्यवस्था को यह राजा नहीं मानता था। इस राजा को भी जीतकर शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्धमत का अब ह्रास होने लगा। अब इसका कुछ आकार बदलकर जैनमत का प्रारम्भ हुआ। जैन लोग केवल युक्तिवादी थे और कृमि-कीटों के रक्षक होने के कारण मनुष्यों पर वे अधिक दया का प्रयोग नहीं करते थे। बुद्ध और जैन मतों के फैलने से क्षात्रधर्म को बहुत हानि पहुँची।

अतः पश्चात् विक्रम, भर्तृहरि, शालिवाहन और भोज आदि बहुत से राजा हुए। इसी समय में कालीदास पण्डित हुआ। ग्वालियर में भिंड नामी नगर में मिश्र लोग रहते हैं, उनके पास संजीवनी नामक एक पुस्तक है, उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहले एक हजार श्लोक बनाए, फिर उसके बाद व्यास के शिष्यों ने एक हजार के ६ हजार कर दिए। इनके बाद फिर भरती परभरती होती चली गई। जिस समय जैन मत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त और वायु

---

*. गया जो कि आजकल हिन्दुओं का तीर्थ है, वास्तव में बौद्ध लोगों का एक पवित्र स्थान था। अब तक भी बहुत सी मूर्तियां, जिनको हिन्दू लोग पूजते हैं, वहां बौद्धों की हैं।

पुराण आदि दो तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल १८ ही पुराण हैं, किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं और इनमें क्या-क्या धर-घसीटा है। यावनी भाषा न बोले, जैन मन्दिर में न जावे इस प्रकार कट्टरपन के सैंकड़ों श्लोक बन गए हैं। हवन या उपासना करने के स्थान, जिनका नाम देवालय या देवस्थान था, अब मूर्तियों के स्थान बन गए। लोग ईश्वर के स्थान में मन्दिरों में रखी मूर्तियों की पूजा करने लगे। जैनियों के मन्दिरों की मूर्तियों को भी देवता समझकर पूजने लगे और जैनियों के देवालयों में मूर्तियां बिठाकर गपोड़े हांकने लगे और भांति भांति के हथकण्डों से लोगों को मूर्तियों का चमत्कार दिखाने लगे। लोग भी आजकल की भांति चतुर न थे, इसलिए पुजारियों के फन्दे में फंसने लगे।

जब पुजारी, वैरागी और गोसाईं आदि का जोर बढ़ चला, तब यह कहने लगे कि १८ पुराण सत्यवती-सुत व्यास ने बनाए हैं। इस प्रकार अनार्ष ग्रन्थों का प्रचार और आर्ष ग्रन्थों का लोप होता गया। जड़ मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे और प्रतिष्ठामयूख और प्रतिष्ठाभास्कर आदि ग्रन्थ बना डाले, जिनमें प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्रों के नमूने देखिए—

"प्राणा इहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु,
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इह तिष्ठन्तु"

इस प्राण-प्रतिष्ठा के गपोड़े को आर्य शास्त्रों से सहारा कहां मिल सकता है? चारों वेदों की संहिता में कहीं एक मन्त्र भी प्राणप्रतिष्ठा का नहीं मिलता। इस प्रकार के कल्पित मन्त्र पौराणिक समय में लोगों ने गढ़ लिए और कहने लगे कि प्राण-प्रतिष्ठा से मूर्ति में पूजा का अधिकार पैदा हो जाता है। मालूम होता है कि यह मूर्ति-पूजा जैन मत वालों से हममें घुस आई है और इसको सहारा देने के लिए पुराणों में इसका वर्णन किया गया है।

अवतारों का वर्णन भी पुराणों में ही मिलता है। हरिवंश में नृसिंहावतार की कथा है। अवतारों की कथाओं और मूर्ति-पूजा के प्रचार से लोगों की मननशक्ति दूर होकर मन का झुकाव कर्म-मार्ग की तरफ हो गया। मनमाने व्रत, उपवास, उद्यापन आदि लोग करते हैं। ऐसे कामों से शारीरिक स्वास्थ्य की हानि और रोगों की वृद्धि होती है; इसके अतिरिक्त इन बखेड़ों से शैव, वैष्णव, वल्लभाचारी और रामानुजी आदि अनेक प्रकार के सम्प्रदाय उत्पन्न होकर आपस में विरोध बढ़ता गया और जड़ मूर्तियों के आगे बाल-भोग रखने, उन्हें सुलाने और रामलीला करने आदि बालक्रीड़ाओं से वैदिक धर्म की निन्दा होती है और देश के प्रत्येक प्रान्त में पाप की वृद्धि होती है ऐसी और भी बहुत-सी हानियां मूर्तिपूजा से होती हैं। मन्दिरों में पुजारी लोग वैसा-ही प्रसाद देते हैं, जैसी कि उनको दक्षिणा मिलती है। इसलिए मन्दिर क्या हैं मानो सेठ लोगों की दुकानें हैं। पुजारी लोग अपने स्वार्थ के लिए आलस्य और मूर्खता को बढ़ाने वाले बहुत-से नये वाक्य बनाकर लोगों को फंसाते हैं। बहुत-से वाक्यों को अपनी इच्छा के अनुसार जोड़-मेल कर दिया है। कहते हैं कि—

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यम् । दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ।।
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा सर्वं पापं विनश्यति ।।

(१) पढ़कर भी जब मर जाना है तो दांत कटाकट करने की क्या आवश्यकता है ?

(२) यदि प्रातःकाल उठकर शिवलिंग का दर्शन करे तो सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

वाह ! क्या पुरुषार्थ है । ज्ञान के बिना भोग, पुरुषार्थ और आनन्द नहीं है; परन्तु जहां ऊपर कही हुई भांति पुरुषार्थ की समझ है तो वहां भागवत जैसे पुराणों का जोर क्यों न होगा । यथार्थ विद्याओं के पठन पाठन को एक तरफ हटाकर पुराणों के केवल सुनने में सारे माहात्म्य लाकर धर दिए है । प्रत्येक पुराण की समाप्ति पर उसके सुनने से क्या-क्या लाभ होंगे, इसके मनमाने फल वर्णन किए हैं ।

इस प्रकार धर्मबुद्धि बिगड़ जाने से लोग निर्बल और कायर हो गए । तभी तो ऐसी भ्रान्ति में फंस गए कि नवग्रहों से हमारी हानि होगी । इसी आधार पर फलित ज्योतिष का आडम्बर फैलाकर तदनुसार नव ग्रहों के जाप के मन्त्र बनाए गए । इन मन्त्रों के अर्थों का इन कामों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं, जिनके करते समय कि उनका प्रयोग किया जाता है, इस विषय पर कभी किसी ने विचार नहीं किया । उदाहरण के लिये एक ही 'शन्नो देवी' मन्त्र को देखिए । इसको शनैश्चर देवता का मन्त्र ठहराया है और ज्योतिषी जी महाराज ने अपना खेत पकाया है । इसी प्रकार सम्प्रदायी लोगों ने तन-मन-धन गोसाईं जी के अर्पण कर ऐसे-ऐसे उपदेशों से भोले-भाले लोगों के मन भ्रष्ट कर दिए ।

पाठक ! यहां भली-भांति विचार कीजिए कि प्रमाज्ञान क्या है और भ्रांतिज्ञान क्या है ? देखिए जो वस्तु जैसी हो, उसका वैसा ही ज्ञान होना प्रमाज्ञान कहलाता है—

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।[1]

प्रमाणों से अर्थों की परीक्षा करना न्याय कहलाता है । इस वाक्य को कसौटी पर लगाकर सच-झूठ की परीक्षा कीजिए ।

हमारे भाई शास्त्री लोग हठ करते हैं, यह हम सबका दुर्भाग्य है । हमारे भरत-खण्ड देश से वेदों का बहुत-सा धर्म लुप्त हो गया है और रहा-सहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जा रहा है । सदाचार और सच्चाई से हम लोग दूर होते जा रहे हैं, तभी तो हम सबकी दुर्दशा हो रही है. इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सनातन आर्ष ग्रन्थ वेदादि को छोड़कर पुराणों में लिपट रहे हैं और उनकी कल्पित और असम्भव गाथाओं को अपना धर्म समझ

१. न्याय, वात्स्यायनभाष्य १।१।१ ।।

रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं ? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय हो सकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और ६ दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिए और पढ़े लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और गांव-गांव में आर्यसमाज स्थापना करके तथा मूर्तिपूजादि अनाचारों को दूर करके एवं ब्रह्मचर्य से तप का सामर्थ्य बढ़ाकर सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को चाहिए कि शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावे तो सुगमता से शीघ्र लोगों की आंखें खुल जावेंगी और दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी। मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने से यह काम कैसे हो सकेगा, इसलिए आप सब बुद्धिमान् लोगों से आशा रखता हूं कि आप मुझे इस शुभ कार्य में सहयोग देंगे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।



चतुर्दश-उपदेश

नित्यकर्म और मुक्ति

प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जो प्रतिदिन के कर्त्तव्य हैं, उनको आह्निक कर्म कहते हैं। धर्म-सम्बन्धी जो कर्त्तव्य हैं वे नित्यकर्म हैं। वे कर्म किसको किस प्रकार और कहां तक करने चाहिए और किसको न करने चाहिए, इस विषय पर विचार किया जाता है। बालक मूर्ख और छोटा होने के कारण माता-पिता के अधीन रहता है। ८ वर्ष की अवस्था तक उसमें धर्म-सम्बन्धी काम करने की योग्यता नहीं होती। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रों ने व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) होने से पहले बालकों के लिए नित्यकर्म का विधान नहीं किया है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, आयु और शारीरिक बल इत्यादि के अनुसार शास्त्रों ने नित्यकर्म की व्यवस्था की है। धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में नित्यकर्म निम्नलिखित हैं—

१. **ब्रह्मयज्ञ**—जो वेदों के पाठन-पाठन द्वारा होता है। 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ विद्या, वेद और परमात्मा तीनों के हैं। 'यज्ञ शब्द का अर्थ विचार है। इसलिए ब्रह्म-के अर्थ वेदों का विचार या परमात्मा का विचार हुआ। ब्रह्मयज्ञ के ठीक अर्थों को मन में जगह देकर यह स्पष्ट मालूम होता है आजकल जिस रीति पर ब्रह्मयज्ञ किया जाता है, वह निष्फल है और फिर यह आक्षेप मन में कभी स्थान न पावेगा कि आधुनिक ब्रह्मयज्ञ शास्त्र के अनुसार नहीं है।

२. **देवयज्ञ**—"यदग्नौ हूयते स देवयज्ञः" जो अग्नि में होम किया जाता है, वह देवयज्ञ है। कोई लोग देवयज्ञ का अभिप्राय देवताओं की पूजा समझते हैं, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और मनुस्मृति के देखने से मालूम होता है कि इस देवयज्ञ का ठीक अभिप्राय होम अर्थात् अग्निहोत्र है। अग्नि दो प्रकार की है, एक जठराग्नि और दूसरी भौतिकाग्नि। कोई लोग कहते हैं—

'होमैर्देवान् यथाविधि अर्चयेत्।' (द्र० मनु ३।८१) होम से विद्वानों का यथाविधि सत्कार करना चाहिए।

होम शब्द के पारिभाषिक अर्थ कभी-कभी दान और आदान के भी हो जाते हैं। फिर भी कोई मनुष्य किसी प्रकार मूर्ति-पूजा को देवयज्ञ में शामिल नहीं कर सकता।

३. **पितृयज्ञ**—"[यस्मिन्] पितृभ्यो ददाति स पितृयज्ञः।" जिसमें पितरों को दिया जावे अर्थात् उनकी सेवा की जावे, उसे पितृयज्ञ कहते है। यहां पर पितृ शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥[1]

सुनीति, धर्म, सचाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त अत्यन्त सहिष्णु, महात्मा जो प्राचीन ऋषि हुए हैं उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियां मिला करती थीं। ऐसे ऋषि सच्चे पितर होते थे और उनका आदर-सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था। २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसु, ३६ वर्ष तक रुद्र और ४८ वर्ष तक रहने वाला आदित्य कहलाता था। छान्दोग्य-उपनिषद् में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के लिए ३ सवन बतलाये गये हैं, जो तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से सम्बन्ध रखते हैं। इन सबके तात्पर्य पर विचार करने से मालूम होता है कि विद्या के द्वारा आत्मिक जन्म देने वाला ही पिता कहलाता है और ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं।

आजकल पितृयज्ञ कहने से जो मृतकों का श्राद्ध, और तर्पण समझा जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि मनुजी ने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं और तृप्ति का नाम तर्पण है। इन सब अर्थों और प्रयोगों पर विचार करने से मालूम होता है कि आजकल जो देवयज्ञ और पितृयज्ञ की जो व्याख्या की जाती है, वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला सोचिए कि कवियों की अत्युक्ति से यथार्थ तत्त्व कैसे जाना जा सकता है? विद्या-सत्कार अर्थात् ऋषि-सत्कार और पितृ-सत्कार अर्थात् विद्वानों के सत्कार को पितृयज्ञ मानना चाहिए। श्रद्धा के विना जो किया जाता है वह धर्म-कर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होता। मनुजी ने कहा—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥[2]

पाखण्डी, वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले, बिडालवृत्ति वाले, हठी, बकवादी और बगुलाभक्त मनुष्यों का वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

वेदविहित पितरों की सेवा-शुश्रूषा छोड़कर समुद्र, पहाड़, नदी और वृक्षों का तर्पण करना और इसे श्राद्ध मानना, भला पाखण्ड नहीं तो और क्या है? प्राचीन पद्धति ही यदि लेनी थी, तो ऋषियों की पद्धति स्वीकार करते।

४. **भूतयज्ञ**—"यो भूतेभ्यः क्रियते स भूतयज्ञः।" जो प्राणियों को भाग दिया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, साधारण प्राणियों का पालन करना भूतयज्ञ है।

५. **अतिथि यज्ञ**—मनुजी लिखते हैं—

---

१. मनु० २।१५६, १५४॥ २. मनु० ४।३०॥

अनित्या हि स्थितिर्यस्य सोऽतिथिः सद्भिरुच्यते ।[1]

जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है । अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो [उसकी सेवा करना] यह एक श्रेष्ठ कर्म है ।

अब पुनः ब्रह्मयज्ञ पर विचार करना चाहिए । इस यज्ञ के सम्बन्ध में सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिए । इसके विषय में एक सन्ध्योपनिषद् है, इस पुस्तक में विशेष व्याख्या की गई है । इस उपासना का अधिकार यदि योग्य अवस्था हो तो लड़के-लड़कियों को बराबर है । दिन और रात की सन्धि के समय में यह उपासना अवश्य करनी चाहिए । ऐसा सन्धि समय सायं प्रातः दो समय आता है, तीन बार नहीं होता । इसलिए दोपहर की सन्ध्या कदापि नहीं हो सकती । सामब्राह्मण और यजुर्वेद का ब्राह्मण देख लीजिए—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे संध्यामुपासीत ।[2]

दिन और रात की सन्धि के समय संध्योपासना करनी चाहिए ।

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायेत् ।[3]

सूर्य के उदय और अस्त होने पर संध्या करनी चाहिए । इन प्रमाणों से केवल दो संध्या ही सिद्ध होती हैं । संध्योपासना में गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर [विचार] करना चाहिए । इस मन्त्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है । दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है । ईसाई लोगों की प्रार्थना के मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि—"हे परमेश्वर ! हमको प्रतिदिन रोटी खाने को दे ।" इसकी अपेक्षा इस आर्यों के महामन्त्र का अर्थ कैसा गम्भीर है । आधुनिक समय में जो-जो मत निकले हैं, उनकी प्रार्थना के मन्त्र इस महामन्त्र के सामने कैसे तुच्छ हैं । इस पर प्रत्येक बुद्धिमान् को विचार करना चाहिए । संध्योपासना सदा सायं-प्रातः इन दो कालों में ही करनी चाहिए इन दोनों कालों में मनोवृत्ति की स्थिरता में प्राकृतिक सहायता मिलती है । सूतक*

१. द्र० मनु० ३।१०२—अनित्य हि स्थितो यस्मात् तस्माददतिथिरुच्यते ।

२. षड्विंशब्राह्मण ४।५।। यह सामवेद का ब्राह्मण है ।

३. तै० आ० २।२।२ ।।

* हिन्दुओं में जब किसी के घर सन्तानोत्पत्ति होती है, तो उसके सम्बन्धियों के यहां दश दिन तक या तीन दिन तक सूतक माना जाता है । इसी प्रकार मृत्यु में भी । इन दिनों में पूजा-पाठ आदि वर्जित रहते हैं । महर्षि इसका स्पष्ट खण्डन करते हैं—

में सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए, अनध्याय नहीं करना चाहिए। इस विषय में मनुजी लिखते हैं—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
न विरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥[1]

वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम मन्त्रों में अनध्याय नहीं है।

नित्यकर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म का या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ। यहां तक नित्यकर्म का विधान हुआ।

[मुक्ति-विषय]

अब आगे मुक्ति के विषय में थोड़ा-सा विचार किया जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना? उत्तर स्पष्ट है कि दुःख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है। जहां बन्धन नहीं वहां मुक्ति भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है, इसलिए इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन से पृथक् है, इसलिए उसको मुक्त-स्वभाव कहते हैं। मुक्ति का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है। आजकल तो लोग यह समझते हैं कि सब्ज़ी भाजी की तरह मनमाने कामों से मुक्ति मिलती है, परन्तु यह मूर्खतापन की समझ है। मुक्ति के मनमाने चार भेद जो लोग बतलाते हैं वे ये हैं—सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य,। ये सब कल्पित हैं। वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद कहीं नहीं लिखे। प्रत्युत उनमें एक ही प्रकार की मुक्ति बतलाई है। यजुर्वेद में लिखा है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।[2]

"उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकते हैं, दूसरा और कोई मार्ग नहीं है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति का मार्ग एक है और वह केवल परमेश्वर का ज्ञान है। इस पर प्रश्न होगा कि वह परमेश्वर कैसा है?

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।[3]

"उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (मूर्ति या पैमाना) नहीं है, जिसका कि यश बड़ा है।" फिर तवल्कार और बृहदारण्यक उपनिषद् को भी देखना चाहिए, जिनमें बतलाया है कि जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्मा व्यापक है तथा उसे वाणी- मन, आँख, कान और प्राणों को भी अपने-अपने कामों में लगाने वाला माना है और उसे एक तथा अद्वितीय माना है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि

---

१. मनु० २।१०५ ॥
२. यजु० ३१।१८ ॥
३. यजु० ३१।२ ॥

परमेश्वर के ज्ञान के विना मुक्ति पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। वह परमेश्वर अरूप, अनादि तथा अनन्त है। वही ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका सहारा है। आजकल की मुक्ति तो यह समझी जाती है कि जीव और परमात्मा एक ही है, बस यह ज्ञान होना ही मुक्ति है। यह आजकल के वेदान्तियों का मत है; किन्तु यह सच्चा वेदान्त नहीं है और न वेदों का सिद्धान्त है। इस बात की पड़ताल करने पर कि षट् दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है—इसका तत्त्व मालूम हो जायगा। पहले जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा में यह कहा है कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहां "यज्ञो वै विष्णुः"[1] इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण भी दिए हैं। इस पर विचार कीजिए।

फिर कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।[2] न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ने अत्यन्त दुःख-निवृत्ति को मुक्ति माना है।[3] मिथ्याज्ञान के दूर होने से बुद्धि, वाक् और शरीर शुद्ध होते और इनकी शुद्धि से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है। योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मानते हैं कि चित्त-वृत्तियों का निरोध करने से शान्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की [अत्यन्त] निवृत्ति होना ही परम पुरुषार्थ (मुक्ति) है।[4] अब देखिए कि उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्तदर्शन के रचयिता बादरायण (व्यास) क्या कहते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥[5]

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥[6]

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥[7]

[भावं जैतिनिर्विकल्पामननात् ॥[8]

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥[9]]

व्यास के मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं। मुक्त जीवात्मा का परमेश्वर के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है। दोनों एक अर्थात् जीवात्मा का अभाव कभी नहीं होता।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥[10]

---

१. शत० १।१।२।१३ ॥ २. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ १।१।२ ॥

३. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ १।१।२२ ॥

४. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ १।१ ॥

५. वेदान्त ४।४।४ ॥ ६. वेदान्त ४।४।६ ॥ ७. वेदान्त ४।४।१० ॥

८. वेदान्त ४।४।११ ॥ ९. वेदान्त ।४।४।१२ ॥

१०. वेदान्त ४।४।२१ ॥

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्द कुछ जीवात्मा को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर का आनन्द असीम है वैसा आनन्द मुक्त-जीवात्मा को हो ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म में अभेद मानने से धर्मानुष्ठान के सब साधन योग, तप और उपासना आदि सब निष्फल हो जायेंगे, इसलिए परमात्मा और जीवात्मा को एक मानना ठीक नहीं है। व्यापक और व्याप्य, सेव्य और सेवक आदि सम्बन्ध ईश्वर और जीव में वर्तमान रहता है और यही सम्बन्ध जीवात्मा के जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारे का कारण होता है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



पञ्चदश-उपदेश

स्वयं कथित जीवन-चरित्र

[४ अगस्त सन् १८७५]

हमसे बहुत-से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की चिट्ठियां मंगा दें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इसलिए मैं अपना कुछ वृत्तान्त कहता हूं। दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है, यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपना पता दूं या पत्र-व्यवहार करूं तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लग जावेगी, जिससे कि मैं छूट चुका हूं। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे, पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता। धराङ्गधरा नाम का एक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है, वहां मेरा जन्म हुआ था। मैं उदीच्य ब्राह्मण हूँ। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैंने बड़ी कठिनता से यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की होगी।

आठवें वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था वह मुझसे बहुत-ही प्यार करता था। मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। मेरे पिता ने मुझको शिव की पूजा में लगा दिया। दसवें वर्ष से पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लग गया।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परन्तु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा मेरे मन को बहुत मीठी लगी और मैंने उपवास रखने का पक्का निश्चय कर लिया। मेरी मां कहती थी कि उपवास मत कर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया। मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा देवल है। वहां शिवरात्रि के दिन रात के समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं और पूजा करते हैं। मेरा पिता, मैं और बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहले पहर की पूजा कर ली, दूसरे पहर की पूजा भी हो गई। अब बारह बज गए और धीरे-धीरे आलस्य के कारण लोग जहां-के-तहां झुकने लगे। मेरे पिता को भी निद्रा आ गई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न हो जाय। इतने में यह चमत्कार हुआ कि मन्दिर में बिल से चूहें बाहर निकले और महादेव की पिण्डी के चारों तरफ फिरने लगे। पिण्डी पर जो चावल चढ़ाये हुए थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिए

यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहले शिवरात्रि की कथा मैं सुन ही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उसके पाशुपत अस्त्र, बैल की सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिए चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन बुद्धि आश्चर्य में पड़ गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार की बहुब-सी शंकायें मेरे मन में उठने लगीं? मैंने पिताजी को जगाकर पूछा कि ये महादेव इस छोटे चूहे को क्यों नहीं हटा देते। पिता ने कहा कि तेरी बुद्धि बड़ी भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी, माता से खाने को मांगा। माता कहने लगी, "मैं तुझसे पहले ही कहती थी कि तुझसे भूखा नहीं रहा जायगा। तूने हठ करके उपवास किया।" मां ने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि दो-तीन दिन तू उनके अर्थात् पिता के पास मत जाइयो और न उनसे बोलियो, नहीं तो मार खायगा, खाना खाकर मैं सो गया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने दादा से कह दी। मेरे दादा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिए व्रत उपवास आदि इससे कुछ न कराया करो। इस समय मैं इनसे यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पण्डित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इसके बाद मैं अपनी जमींदारी के गांव में पढ़ने के लिए गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच होता था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणासन्न थी, कण्ठ बन्द हो गया था। मैं वहां गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा हुआ। सबसे पहले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई, तो मुझे बड़ा भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सबको इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से धड़क रही थी। इसलिए मेरी आँखों से एक आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देखकर पिता ने मुझको पाषाण हृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थी, किन्तु उसने भी ऐसा ही कहा। मुझे सोने के लिए कहते थे। पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी; किन्तु मैं हर घड़ी चौंक-चौंक उठता था और मन में भांति-भांति के विचार उठते थे। बहन के मरने के पश्चात् लोक-रीति के अनुसार पांच-छः बार रोना होने पर भी जब मुझे रोना नहीं आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझसे अत्यन्त स्नेह रखने वाले मेरे दादा को भी मृत्यु ने आन दबाया। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो-रो कर आंखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चाचा की तरह मैं भी मर जाऊंगा।

ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊं। इस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी।

मेरी बढ़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी का काम करने को कहा, परन्तु मैंने न किया। फिर पिताजी ने निश्चय किया कि मेरा विवाह कर दें ताकि मैं बिगड़ न जाऊं। यह विचार घर में होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूंगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने मना किया और विवाह करने के लिए जोर देने लगा। मेरा विचार घर छोड़कर चले जाने का था, पर किसी ने सलाह न दी। जो कहते विवाह करने को ही कहते। एक महीने के भीतर विवाह की तैयारी हो गई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिस (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं। मैं एक पास के गांव में गया। इधर घर में मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात तक होती रही। इसी रात को चार घड़ी के तड़के मैं गांव से निकलकर आगे चल दिया और अपने गाँव से दस कोस के अन्तर पर एक गाँव के हनुमान् के मन्दिर में ठहरा। वहां से चलकर सायला योगी के पास गया, परन्तु वहां पर मुझे शांति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी है। तब उनकी ओर चल पड़ा। मार्ग में एक वैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बात-चीत होने पर वह बोला कि अंगुली में सोने का छल्ला डालकर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी? मुझे इस प्रकार खिजाकर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति की भेंट चढ़वा लिए। लालाभक्त के पास जाकर मैं योगसाधन करने लगा। रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, तो वृक्ष के ऊपर घूघू बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया। फिर वहां से अहमदाबाद के समीप कोट कांगड़े नामी गांव में आया, वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी बैरागी के फन्दे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा किया, परन्तु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहां पर वैरागी मुझ पर हंसी उड़ाने लगे, इसलिए जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंक दी। मेरे पास केवल ३) रुपये रह गए थे, इनसे सादी धोती खरीद कर पहन ली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रख लिया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। वह सोचकर कि वहां शायद मुझे कोई योगी मिल जावे और अमर होने का मार्ग बता दे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गांव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि मैं सिद्धपुर की ओर चला गया हूं। मेरे पिता और घर के लोग बराबर मेरी खोज में ही थे। इस आदमी की जबानी मेरा पता सुनकर मेरे पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आये। मैं एक मन्दिर में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता सामने आकर खड़े हो गए। देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा इस भय से कि पिता मुझ को मारेंगे, मैंने उठकर उनके

पांव पकड़ लिए। वे मुझ पर बहुत-ही क्रुद्ध हुए, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त्त बहका-कर मुझे यहां लाया है, मैं घर जाने को तैयार ही था कि आप आ गए। उन्होंने मेरा तूंबा तोड़ डाला और मेरी छाई फाड़ डाली और कुछ कपड़े मुझे दिए। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिए कर दिए, रात को जहां मैं सोता था एक सिपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं और इसलिए मैं यह जानने के लिए कि सिपाही रात को सोता है या नहीं खुद भी जागता रहता। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा हूँ और इसलिए मैं नाक से खुर्राटे भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आ गई, तब एक लोटा हाथ में लेकर बाहर निकला। यदि कोई देखपावे तो झट कह दूंगा कि शौच को जाता हूँ। वहां से निकलकर गांव के बाहर एक बाग में चला गया। प्रातःकाल होते ही एक वृक्ष पर चढ़कर बैठ गया। इस भांति एक दिन भर इस वृक्ष के ऊपर बैठा रहा। रात को जब अंधेरा हो गया, सात बजे नीचे उतरकर चल दिया। अपने गांव और घर के मनुष्यों से यह अन्तिम भेंट थी। इसके पश्चात् एक बार प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गांव के बहुत-से लोग मुझ को मिले; परन्तु मैंने उनको अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।

सिद्धपुर से बड़ोदे को आया, वहां से नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा। इस समय नर्मदा के तट पर योगानन्द स्वामी रहते थे। यहां एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्ण-शास्त्री भी रहते थे, इनके पास मैं कुछ-कुछ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। २३ या २४ वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूदकनाली में एक संन्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और संन्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता है। इसलिये उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास ले लिया, तब से ही दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के पास धर दिया। चाणूद में दो गोसांई आये जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहाँ से मैं जाते-जाते हरद्वार पहुँचा, वहां कुम्भ का मेला था। वहां से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुंचा जहां से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठण्डा था। वहां बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुँच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूं। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए। यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहां मुझे एक धर्मात्मा संन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानन्द था, वे पहले अलवर में रहते थे। इस समय उनकी अवस्था ८१ वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद, शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आंखों से अन्धे थे, और इनके पेट में शूल रोग था। ये कौमुदी और शेखर आदि नवीनग्रन्थों को नहीं अच्छा समझते

थे और भागवत आदि पुराणों का भी खण्डन करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों के वे बड़े भक्त थे। उनसे भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है। मैंने उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किए, मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया था। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर खाने के लिए जाना होता, तो वे पहले मेरे लिए भोजन बनाकर और मुझे खिलाकर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गए थे। विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परन्तु पत्रव्यवहार के द्वारा या कभी-कभी स्वयं गुरु की सेवा में उपस्थित होकर अपने सन्देह निवृत्त कर लेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहां कुछ-कुछ वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ किया, वहां से भी स्वामी जी को पत्रादि भेजा करता था। वहां माध्वमत के एक आचार्य हनुमन्त नामी रहते थे। वे काकन का स्वाँग भरकर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे। एक-आध बार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला, तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने कई बार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं एक काकन हूँ, सुनने-सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ है। एक दिन इस विषय पर वार्त्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह ठीक है या नहीं। मैंने कहा यदि रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुंह काला करने से स्वर्ग से भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी। यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और वे उठ गए। तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया। वहां पर एक कबीरपन्थी मिला, उसने एक बार वीर के अर्थ कबीर किये थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद् भी है। वहां से फिर मैं जयपुर को गया, वहां हरिश्चद्र नामी एक बड़े विद्वान् पण्डित थे। वहां पहले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत [का] स्थापन किया। जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाई। वहां शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी-घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माला पहनाई गई।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहां से अजमेर आया। अजमेर पहुंचकर शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराजा साहब लाट साहब से मिलने के लिए आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न हो जावे, राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर पहुंच गया; परन्तु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खण्डन आरम्भ कर दिया है, राजा साहब अप्रसन्न हुए। इसलिए मैं भी जयपुर छोड़कर मथुरा में स्वामीजी के पास गया और शंका-समाधान किया। वहां से मैं फिर हरद्वार को गया,

वहां अपने मठ पर पाखण्ड-मर्दन लिखकर झण्डा खड़ा किया। वहीं वाद-विवाद बहुत-सा हुआ। फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरुद्ध होकर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिए मैंने सब कुछ छोड़कर केवल एक कौपीन (लंगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गत वर्ष बम्बई में आकर छोड़ा। वहां तक लगाता रहा था। जब से रेल में बैठना पड़ा, तब से कपड़े पहनने लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन सध न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे। एकदिन मेरी कुटी के द्वार पर एक मनुष्य यह कहने लगा—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे हैं। तब मुझ से यह सहन न हो सका, तब मौन-व्रत को छोड़कर मैंने भागवत का खण्डन प्रारम्भ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान अपने को हुआ है वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए। इस विचार को मन में रखकर मैं फर्रुखाबाद को गया, वहां से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शास्त्रार्थ शुरू किया वहाँ पर जब दो-चार पण्डित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इस लिए आज तक वहां के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहां पर चक्राङ्कितों के चेले दश आदमी मुझे मारने को आए थे, बड़ी कठिनता से उनसे बचा। वहां से मैं फर्रुखाबाद होकर कानपुर आया। कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आए थे, पर एक माधवप्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उसने मुझे बचा दिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था; उसने इन सब पण्डितों को नोटिस दे रखा था कि यदि आप अपने आर्यधर्म में तीन महीने के भीतर मेरा विश्वास न करा देंगे तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लूंगा। मेरे आर्य-धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं रामनगर को गया। वहां के राजा की इच्छानुसार काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्तिपूजा है या नहीं? मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में मिलता है; परन्तु उसके अर्थ तौल, नाप आदि के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ है; जिसको सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही समझने चाहिएं इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गत वर्ष भाद्रपद में मैं काशी में था, आज तक चार बार काशी में जा चुका हूं। जब-जब काशी में जाता हूँ, तब-तब विज्ञापन देता हूँ कि यदि किसी को वेद में मूर्ति-पूजा का प्रमाण मिला हो, तो मेरे पास लेकर आवे, परन्तु अब तक कोई भी प्रमाण नहीं निकाल सका।

इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुए कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जयपुर आदि नगरों में मैंने बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिया है। काशी, फर्रुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालायें

आर्य-विद्या पढ़ाने के लिए स्थापित की हैं। उनमें अध्यापकों की उच्छृङ्खलता से जैसा कि लाभ पहुंचना चाहिए था, नहीं पहुंचा। गत वर्ष बम्बई आया। यहां मैंने गुसाई महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्यसमाज स्थापित हो गया। बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्म्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हुआ हूँ।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिए। ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता, फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है उसे चलाऊंगा।

अब अन्त में ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूं कि सर्वत्र आर्यसमाज कायम होकर मूर्ति-पूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद-शास्त्रों का सच्चा अर्थ सब की समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे। पूरी आशा है कि आप सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ें

महान् विषय है—

जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में नहीं।

थोड़ा समय लगता है—

महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है।

मोतियों का पाना है—

"आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसे एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।" (स० प्र०, ३ स०)

ऋषि सब जानते थे—

'ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सर्वशास्त्रविद् धर्मात्मा थे।' (स० प्र०, ३ स०)

बुद्धि धन देते हैं—

"शीघ्र बृद्धि, धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें।"

अनार्ष ग्रन्थ न पढ़ें

झूठा झगड़ा मचाया—

"आजकल के अनार्ष-नवीन ग्रन्थों को पढ़ने और प्राकृत (हिन्दी) भाषा वालों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर नवीन क्षुद्रबुद्धि-कल्पित संस्कृत और भाषा के ग्रन्थ पढ़कर एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर हो के झूठा झगड़ा मचाया है।"

संसार का नाश करने वाले—

"इनका कथन बुद्धिमानों को वा अन्यों को मानने योग्य नहीं है, क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चले तो दुःख क्यों न पावें? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करने वाली है।"

कठिन है—

और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी।

अल्प लाभ—

जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना।

आर्यसमाज के नियमोद्देश्य

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थविद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि-मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

---

printed at Arya Offset Press, Daya Basti, Delhi.

